गुरुकुल - पत्रिका

मासिक शोध—पत्रिका
Monthly Research Magazine

सम्पादक

प्रो० महावीर

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार—249404

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक

प्रो० महावीर

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य

पी-एच.डी., डी.लिट्.

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार –२४९४०४

मई - अगस्त सन् २००२ ई०	वर्ष ५४ वां	ज्येष्ठ - भाद्रपद सम्वत् २०५९

सम्पादक मण्डल

मुद्रक : किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल हरिद्वार फोन : 415975

विषयानुक्रमणिका

वेदमञ्जरी

चत्वारः पुरुषार्थाः

चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयादा निधातोः।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत्॥ (ऋग्० १.४१.९)

ऋषिः कण्वः घौरः। **देवता** वरुणमित्रार्यमणः। **छन्दः** गायत्री।

(चतुरः चित्) चतुरोऽपि पुरुषार्थान् **(ददमानाद्)** धारयतः जनाद् **(बिभीयात्)** भयं कुर्यात्, **(आ निधातोः)** यावत् स एनान् न परिहरति। **(दुरुक्ताय)** दुर्भाषणाय **(न स्पृहयेत्)** न स्पृहां कुर्यात्।

प्रायेण दृश्यते यन्मनुष्यो बिभेति असत्पुरुषेभ्यः, मा तावत् तेऽस्मान् हिंसिषुरिति। अन्धे तमसि चौरं विलोक्य स कम्पते। आततायिनं दृष्ट्वा स गृहे निलीयते। किन्तु एवंविधैः असत्पुरुषैस्तु तेन संघर्षो विधातव्यः, संघर्षं कृत्वा च विजयः प्राप्तव्यः। तर्हि मानवः कस्माद् बिभीयात्? तस्माद् यो धार्मिको वर्तते, यो धर्मपूर्वकं धनमर्जयति, यो धर्माविरुद्धे कामे प्रवर्तते, यश्च जीवन्मुक्तो विद्यते। धर्मोऽर्थः कामो मोक्षश्च चत्वारः पुरुषार्था मानवस्योन्नत्यै चत्वारः सोपाना वर्तन्ते, येषां मूलं धर्मोऽस्ति। केनचिद् धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचम् इन्द्रियनिग्रहः धीः विद्या सत्यम् अक्रोधः इति धर्म उक्तः। कश्चिद् यो धारयेत् स धर्म इति व्याजहार। केनचित् स्वस्य यथा प्रियं तथैव परेण व्यवहर्तव्यम् इति धर्मः प्रोक्तः। धर्मस्य लक्षणानि तावद् अनेकानि भवितुमर्हन्ति। परं सर्वेषु मूलभावना समानैव वर्तते यत् तान्येव कर्माणि धर्मा उच्यन्ते यैः परेषामपि कल्याणं भवेत् स्वस्यापि च। धर्मवद् द्वितीयः पुरुषार्थो धनमपि उन्नतिसाधनं विद्यते। परन्तु तावदेव यावत् तद् धनं धर्मानुकूलैरुपायैः सञ्चितं भवेत्, अन्यथा तत् पतनकारणं सम्पद्यते। तृतीयः पुरुषार्थः कामोऽपि धर्माविरुद्धः सन् पतनसाधनं भवति, किन्तु धर्मानुकूलः सन् संकल्पबलेन महतां कार्याणां साधको जायते। यथा निर्वाते स्थाने दीपकस्य ज्योतिः निश्चलं तिष्ठति, तथैव यस्येन्द्रियमनःप्रभृति निश्चलं जातं, येन च समाधिना स्वात्मा परमात्मनि केन्द्रितः स जीवन्मुक्त उच्यते। शरीरपातानन्तरं स मोक्षं प्राप्नोति। धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णामपि पुरुषार्थानां धारकाद् जनाद् मनुष्यो बिभीयात्। स मन्येत यद् एतेषां महापुरुषाणां सम्मुखं यद्यहम् अशोभनं कार्यं करोमि तर्हि तद् मम कृते अत्यन्तम् अशोभनीयम् अस्ति। किन्तु एतेभ्यः चतुष्पुरुषार्थधारकेभ्यो जनेभ्यो भयस्य कारणं तावदेव विद्यते, यावत् ते एतान् पुरुषार्थान् सेवन्ते, जीवने समानयन्ति। चतुष्पुरुषार्थत्यागानन्तरं तु तेभ्यः किञ्चिन्मात्रमपि भीतेः कारणं नास्ति। पुरुषार्थचतुष्टयधारकाज्जनात् कस्माच्चिदपि महात्मनः कश्चिन्मनुजः केन रूपेण भयं कुर्यादित्यस्योदाहरणं प्रयच्छन् मन्त्रः कथयति यद् दुरुक्ताय कदाचिन्न स्पृहयेत्, प्रत्युत ततः प्रेरणां प्राप्य सदा सुवचनान्येव ब्रूयात्।

अयि मित्रताया आदर्शभूत मित्र प्रभो! अयि पापनिवारणस्यादर्शभूत वरुण प्रभो! अयि न्यायस्यादर्शभूत अर्यमन् प्रभो! त्वम् अस्मासु तादृशीं वृत्तिम् उत्पादय यया चतुर्णामपि पुरुषार्थानां धारकेभ्यो जनेभ्यः शिक्षां गृहीत्वा वयं तदनुमोदिते सदाचारे एव प्रवृत्ता भवेम।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सम्पादकीय ...

मार्च २००२ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने दूसरी सदी में प्रवेश किया। सौ वर्ष की गौरवमयी यात्रा पूर्ण करने वाले इस ऐतिहासिक शिक्षा संस्थान ने प्राच्य अर्वाच्य विद्याओं की सगमस्थली के रूप में देश के मानचित्र पर अपनी एक पृथक् पहचान बनाई है। २५ अप्रैल से २८ अप्रैल २००२ तक स्वामी श्रद्धानन्द की इस पुण्य भूमि में शताब्दी वर्ष का समापन समारोह भव्य रूप में सम्पन्न हुआ। भारत देश का कोई ऐसा राज्य नहीं था, जहाँ से बहुत बड़ी संख्या में गुरुकुल शिक्षा प्रेमी, श्रद्धालु जनों की भीड़ न आई हो। अमेरिका, कनाडा, इंग्लैण्ड, अफ्रीका, मारीशस, नेपाल, बंगलादेश आदि से भी आर्य जन पधारे। हरिद्वार वासियों के लिए यह एक अभिनव दृश्य था। २६ अप्रैल को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से वैदिक मोहन आश्रम तक निकाली गई **"वेद की अनन्त यात्रा"** नामक शोभा यात्रा को आर्यजन कभी विस्मृत नहीं कर पायेंगे। देश के विभिन्न राज्यों से श्रद्धा, उत्साह पूर्वक पधारे हुए नाना प्रकार की वेशभूषा धारण किये हुए नर–नारी देशभक्ति एवं प्रभुभक्ति के गीत गाते हुए, भारत माता और राष्ट्र के महापुरुषों की जयकार का उद्घोष करते हुए लाखों की संख्या में आगे ही आगे बढ़े जा रहे थे। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान कैप्टिन श्री देवरत्न आर्य, उपप्रधान श्री विमल वधावन, महामंत्री श्री वेदव्रत शर्मा, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति पं. हरबंसलाल जी शर्मा, परिद्रष्टा श्री सदानन्द जी, प्रिन्सिपल प्रो. स्वतन्त्रकुमार जी, सार्वदेशिक सभा के उपप्रधान श्री सुदर्शन शर्मा, उपमन्त्री श्री देवेन्द्र शर्मा, डॉ. महेश विद्यालंकार, आचार्य प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, कुलसचिव डॉ. महावीर आदि के कुशल नेतृत्व में शोभायात्रा वैदिक मोहन आश्रम पहुंची। लाखों श्रद्धालुओं ने उस भूमि को नमन किया, जहाँ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कुम्भ के अवसर पर पाखण्ड खण्डिनी पताका फहराकर सम्पूर्ण संसार में व्याप्त अज्ञान–अन्धकार को, पाखण्ड को ललकारा था। भारत सरकार के अनेक वर्तमान एवं पूर्वमन्त्री, सांसद, विधायक इस अवसर पर उपस्थित थे। प्रथम दिन ओ३म् एवं गुरुकुल पताका का आरोहण क्रमश: कैप्टिन श्री देवरत्न जी आर्य तथा पं. हरबंसलाल शर्मा जी ने किया। ध्वजारोहण स्थल से कुलसचिव प्रो. महावीर के नेतृत्व में शोभायात्रा मंच पर पहुंची और १०० वर्ष पूर्ण कर लेने वाले विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह को उपस्थित दर्शकों ने अपलक नेत्रों से देखा। शताब्दी समारोह का **"नारी सम्मेलन"** अद्भुत था। भारत की सूचना प्रसारण मन्त्री श्रीमती सुषमा स्वराज के हृदयस्पर्शी व्याख्यान को सबने भावविभोर होकर सुना। पचास हजार की क्षमता वाले पूरे पाण्डाल में कहीं पैर रखने की जगह

नहीं थी। आर्यसमाज और गुरुकुल के महाकुम्भ में विश्व के अनेक देशों से आर्यजन आये थे। मारीशस से पधारे हुए शतवर्षीय श्री मोहनलाल जी मोहित को, शहीदे आज़म सरदार भगत सिंह के भाई सरदार कुलतार सिंह को, महान् क्रान्तिकारी अशफाक़ उल्ला के पौत्र अशफाक़ उल्ला को, वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् सामवेद भाष्यकार डॉ. रामनाथ वेदालंकार को, अपने दिव्य व्यक्तित्व की आभा बिखेरने वाले पूज्य स्वामी दीक्षानन्द जी को, आर्य जगत् के भामाशाह पं. हरबंसलाल जी शर्मा को हम सबने श्रद्धा और प्रेम से देखा। समारोह की शोभा वृद्धि की, "भारत सरकार के मन्त्री श्री वेदप्रकाश गोयल, श्री विजय गोयल, श्री जयसिंगराव गायकवाड, अमेठी नरेश श्री संजय सिंह तथा सांसद श्री रासासिंह रावत ने।" दैनिक जागरण के यशस्वी सम्पादक श्री नरेन्द्र मोहन का ऊर्जस्वी दीक्षान्त भाषण दीर्घ काल तक श्रोताओं के कर्णकुहरों में गूंजता रहेगा। धन्य हैं हम सब, जो इस ऐतिहासिक शताब्दी समारोह के प्रत्यक्षदर्शी हुए। इस सम्मेलन से सम्पूर्ण आर्य जगत् में तथा गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति के प्रति अनुराग रखने वाले शिक्षा प्रेमियों में एक नया उत्साह जगा है। समारोह ने कार्य करने की नई दिशा प्रदान की है। चरित्र, दया, ममता, परोपकार, देशभक्ति आदि गुणों से परिपूर्ण भावी भारत के निर्माण के लिए गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति ही एकमात्र प्रभावशाली उपाय है। महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायी स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने जो स्वप्न देखा था, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य रामदेव, आचार्य अभयदेव, पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति, पं. बुद्धदेव विद्यालंकार, पं. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, आचार्य प्रियव्रत विद्यावाचस्पति, डॉ. रामनाथ वेदालंकार, आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार, प्रभृति आचार्यों ने जो स्वप्न संजोये थे, उनको साकार रूप देने का सत्संकल्प हमारे भीतर जगे, हम नये उत्साह से परिपूर्ण होकर कुलमाता की कीर्ति पताका विश्व के कोने–कोने में फहरायें यही हम सबका ध्येय होना चाहिये।

इन्हीं सब भावों और लक्ष्यों को अपने अन्तःस्थल में स्थापित कर स्वामी श्रद्धानन्द के सपनों को साकार करने के लिए गुरु विरजानन्द, पं. लेखराम, अमर शहीद भगत सिंह, लाला लाजपतराय की वीर भूमि पंजाब से **प्रिन्सिपल स्वतन्त्र कुमार जी** कुलपति के रूप में विश्वविद्यालय में पधारे हैं। प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी द्वारा १६ जून को कुलपति पद ग्रहण करते ही कुलवासियों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। गुरुकुल के प्रति श्रद्धा, आस्था रखने वाले लाखों आर्यजन भी अत्यन्त प्रसन्न हैं। वे एक नेक दिल इन्सान हैं। प्रान्तीयता और जातिवाद की संकीर्ण भावनाओं से बहुत दूर, सबके प्रति पारिवारिकता का भाव रखने वाले, अहंकार शून्य शिक्षाशास्त्री प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी का कार्यकाल मंगलमय, आनन्दमय हो, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय अपना प्रकाश चतुर्दिक् फैलाये, यही हमारी कामना है।

प्रो. महावीर

वेदानामर्थैकत्वम्

आचार: श्रुतिनिर्भर: सुविदितो धर्मोऽपि वेदाधृत:
सर्वत्रैव श्रुति: पराभगवती निश्चप्रचम्मन्यते।
दुर्बोधाऽपि सुमङ्गला श्रुतिरियं कालान्तरादद्यनो
वेदार्थस्य विचारणाय तदिदं वक्तृत्वमारभ्यते ॥ १ ॥
विश्वस्मिन्नपि विद्यते महदिदं लोकभयं दु:खदं
शान्तिर्नैव, सहिष्णुता च विरला, बन्धुत्वहीनञ्जगत्।
वेदादेव विनिस्सरिष्यति च तत् पीयूषकल्पं रसं
विश्वं यच्च निपीय साधु भविता श्रेयोमयं सर्वथा ॥ २ ॥

अयि वेदविद्याविद्योतितान्त:करणा: सहृदयसुधिय:!

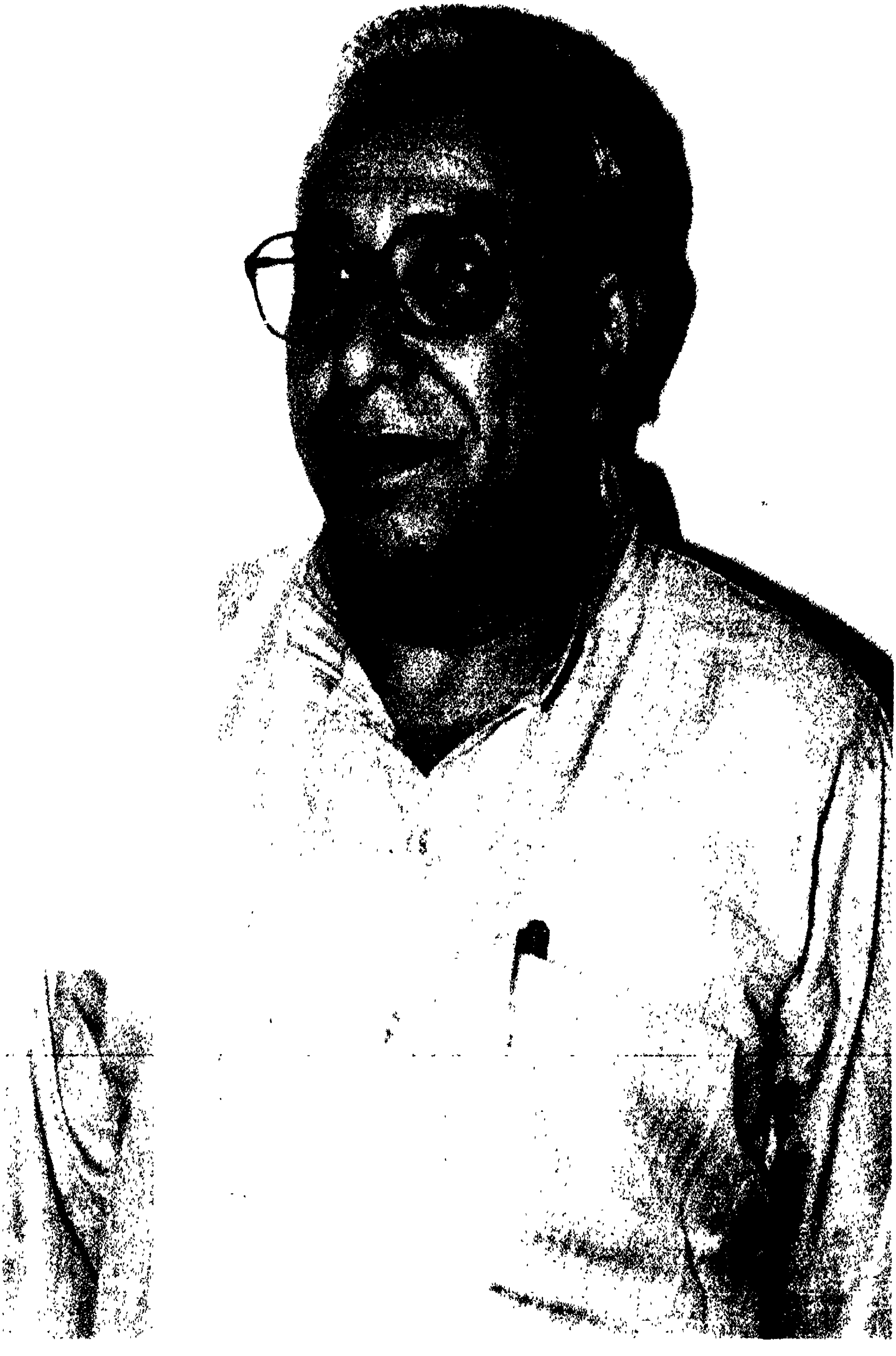
साम्प्रतं वेदानामनुशीलनस्य तेषां नव दृशा व्याख्यानस्य च आवश्यकता पूर्वकालादधिकैव सञ्जाता यतो हि केवलं वेदा एव तादृशा ग्रन्था: सन्ति येषु जना: संशयरहिता भवन्ति। वेदा एव साम्प्रदायिकाग्रहैर्विमुक्ता सन्ति। 'आ नो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वत:' (यजु.) इत्येव तेषामुद्घोष:। केवलं त एवैतादृश: धर्मग्रन्था येषु विज्ञानविरोधो नास्ति। केवलं श्रुतिरेव भौतिकाध्यात्मिक जीवनयो: समन्वयं शास्ति। प्रकृत्या सह अप्यसौ विरोधं परिहरति। पर्यावरणसन्दर्भे पञ्चमहाभूतानां सामरस्यमपि वेदो निर्दिशति। सुप्रसिद्धे शान्तिपाठगते मन्त्रे (यजु. ३६.१७) द्यौ:—अन्तरिक्षम्—पृथिवी—ओषधय:—वनस्पतय:—इति सर्वेषां सर्वासां वा शान्तिरेव वाञ्छिता। यजुर्वेदगतोऽयम्मन्त्रोऽपि सन्दर्भेऽस्मिन् सर्वेषामतिपरिचितोऽस्ति—

"कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमाप: शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धव:। अन्तरिक्ष: शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिश: सर्वा:" (यजु. ३५.९)

वेद: सर्वत्रैव मैत्रीभावं तनोति—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।

(यजु. ३६.१८)



गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के नवनियुक्त कुलपति प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी

मैत्रीभाव एव सर्वेषां सहजीवनमुत्प्रेरयति। असावेव निखिलञ्जगत् कुटुम्बभावेन विलोकयितुं प्रेरयति—'यत्र विश्वं भुवत्येकनीडम्'।

सुहृद्वर्याः! न केवलमस्माभिस्तेषामध्ययनमेव नवोत्साहेन कर्त्तव्यमपितु वेदानुशीलने नवा दिक् चाप्यवलम्बनीया। वेदविद्यया सह सर्वासां प्राच्यविद्यानामनुशीलनस्य प्रथमे पादे हस्तलेखानां सन्धानमभूत्। द्वितीये चरणे तेषां हस्तलेखानां सम्पादनाय विद्वांसः संलग्ना बभूवुः। तृतीये सोपान क्रमे तेषां शब्दशोऽध्ययनञ्जातम्। साम्प्रतमस्मिन्नेव क्रमे प्राच्यविद्यानामनुशीलनस्य चतुर्थञ्चरणम्। इदानीं वेदरहस्याणां साक्षात्कारो विधेयः। केवलं शुकवत्तेषां शब्दोच्चारणमेव नास्त्यलम्। स्मृतिपूर्वकमेतच्छब्दोच्चारणन्तु साम्प्रतं विविधान्याधुनिकयन्त्राण्येव कर्त्तुं शक्नुवन्ति। तदर्थमस्माकं का आवश्यकता? यतो हि संगणकेन मानवस्य स्मृतिवैशिष्ट्यमतिक्रान्तम्।

मम सहधर्माणः! आधुनिकदृष्ट्या वेदानुशीलनस्य सपादैका शताब्दी व्यतीता। सम्प्रति पुरोगमनात् पूर्वं किञ्चित् सिंहावलोकनं समीचीनम्। अद्यावधि भारतीयपण्डितानां परम्परागते वेदाध्ययनक्रमे सायणोव्वटमहीधर—भाष्याणां मुख्यस्थानमस्ति। अपरस्मिन् पक्षे तुलनात्मकं देवशास्त्रं भाषाशास्त्रं वाऽनुसृत्य अध्ययनमध्यापनञ्च प्रचलति। निश्चप्रचं तुलनात्मकस्याध्ययनस्य बहवो लाभाः। पद्धतिमेतां समाश्रित्य सम्पादिता वैदिकग्रन्थाः अनुक्रमण्यश्चास्माकं साहाय्यमेव कुर्वन्ति, किन्त्वनया पद्धत्या वेदानां सामान्या भारतीयपाठका दिग्भ्रान्ता अपि बभूवुः। कस्यचिदेकस्य वेदमन्त्रगतस्य शब्दस्यानेकानर्थान्निरीक्ष्य जनसामान्या वेदाध्ययनादेवपलायिताः। वेदविषये विदुषां वाग्विलासस्तु भूयान् सञ्जातः, किन्तु वेदानां गौरवमनयारीत्या धूमायितम्।

बन्धुवर्याः! अस्य महतो भारतराष्ट्रस्य पूज्यतमा शेवधिः श्रुतिरेव। हिन्दूसमाजस्य धर्मस्य च सर्वस्वस्वरूपो वेदः। भारतस्य आचारः, धर्मः, संस्कृतिः, दर्शन सूत्राणि, विविधानि च शास्त्राणि वेदाधृतानि सन्ति। अतो वेदविषये निरर्गलोक्तिभिर्जनानां महती श्रद्धा विश्वास—भावना च भज्यते। स्वकल्पितविचाराणां, प्रकटीकरणात् पूर्वमेते तुलनात्मकपद्धतेः प्रणेतारः कदापि नैतच्चिन्तयन्ति यद नेन विराट् हिन्दूसमाजस्य आस्तिकता, धर्मभावनाश्चविक्षताः भवन्ति।

पाश्चात्यानामौपनिवेशिकदृष्टिमूलां विचारसरणिं समाश्रित्य कृतेन वेदानुशीलनेन वेदानामुपकारेण सह अपकारोऽपि सञ्जातः। वेदानां पाठ सम्पादनक्रमेऽपि पाश्चात्यविद्वांसो बहूनाम्मन्त्राणां मूलस्वरूपविषयेऽनास्थामुत्पादयामासुः। मुम्बईस्थस्य हेरास (इंस्टीट्यूट) संस्थानस्य निदेशकेन फादरस्टेलर—महोदयेन यत्कृतं तदत्र प्रस्तूयते। तस्य कथनमस्ति 'यदुपलब्धा ऋग्वेदसंहिता मूलऋषिवाणी नास्ति। एषा तु संहिताया विकृतशवरूपास्ति। अस्याः सम्पादकः कोऽपि पथभ्रष्टश्चर्षकारो विदूषको वाऽहम्मन्योऽस्ति।' एस्टलरमहोदयेन पाठ—सम्पादने कीदृशी स्वेच्छाचारिता समाश्रिता, तस्या परिचयोऽत्र सोदाहरणं प्रदीयते। ऋग्वेदसंहितायाः परम्परागतो मन्त्रस्त्वयमस्ति—

एष ते देव नेता रथस्पतिः शं रयिः।
शं राये शं स्वस्तय इषः स्तुतो मनामहे देवस्तुतो मनामहे।।

(ऋ. सं. ५.५०.५)

एस्टलरयहोदयेन सम्पादितमस्य रूपमेवविधमस्ति,
'एण ते देव नयितर शं रयिरधिसस्पतिः।
शं राये शंस्वस्तये 'इषस्तुतः मनामहे देवांस्तुतः मनामहे।।'

वेदानाम्मूलोच्छेदायैव एते प्रयासाः सन्ति, ये तु सर्वथा निन्दनीयाः।

पाश्चात्यविदुषां पद्धतिविषये फ्रांसगतेन दार्शनिक प्रवरेण रेने ग्वेना महोदयेन यदुक्तं तदवधार्यम्– 'एतेषां पाश्चात्य' 'ओरियण्टलिस्ट' विदुषामयम्महान् दोषोऽस्ति यदेते सर्वं स्वपाश्चात्यदृष्टिकोणेनैव पश्यन्ति। सर्वस्मिन्नप्येते स्वविचित्रां मनोवृत्तिमारोपयन्ति। एतद्विपरीतं कस्यचिदपि सिद्धान्तस्य ज्ञानाय प्रथमस्तावदयमेव प्रतिबन्धो यदस्य पूर्वप्रणेतॄणां दृष्टिकोणं विलोकयितुं प्रयत्नः करणीयः।'

सम्प्रति ज्ञान–विज्ञान क्षेत्रे, कस्यचिच्छात्रस्य गवेषणा प्रसङ्गे शास्त्रान्तराणां सहयोगोऽपि स्वीक्रियते। अस्माकं प्राचीनर्षीणामाचार्याणाञ्चाप्यभिमतमेतदासीत्। सुश्रुतसंहितायाम्महर्षिसुश्रुतेन विषयेऽस्मिन् स्पष्टमुक्तम् 'न ह्येकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणामवरोधः कर्तुम्।

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तमाद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः।।

(सुश्रुतसंहिता ४.७)

शास्त्रदृष्ट्या सह प्रत्यक्षानुभवोऽपि संग्राह्यः

'प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टञ्च यद् भवेत्।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम्।।'

(तदेव ५.४८)

किन्तु शास्त्रान्तराणां सहयोग–सन्धानप्रसङ्गेऽप्यवधार्यमेतत् यदन्धानुकरणप्रवृत्त्या फ्रायड–युंग–मार्क्सप्रभृतीनाम्मतानामनावश्यकं वेदमन्त्रेष्वारोपणमपि नास्ति बुद्धिगम्यम्। वेद व्याख्यानविषये विशिष्ट प्रतिबन्धा नोपयुक्ताः, इति स्वीकृत्यापि व्याख्याकारैरेतन्मनसि विधायैव वेदाः व्याख्येयाः यदेते विराट् हिन्दू समाजस्य श्रद्धायाः केन्द्रभूताः। अतस्तेषाम् 'एक्सरे', 'अल्ट्रासाउण्ड'–इति परीक्षणद्वयन्तु येन–केन प्रकारेण सहिष्यते समाजः, किन्तु तेषां शव–परीक्षा सर्वथा असह्या। तदर्थं कस्मैचिदपि नैव, नैवानुज्ञा प्रदेया।

सखायः! पाश्चात्यपद्धत्या वेदानुशीलनवतां तादृशी स्थितिरेवास्ति यादृशी मया 'खजुराहो'—इति नाम्ना प्रसिद्धं स्थलं पर्यटतां पर्यटकानां दृष्टा। मन्दिराणां बाह्य भित्तिगताः काममय्यो मुद्राः मूर्त्तीश्च पौनःपुन्येन पश्यन्ति, अश्लील दृश्येसु रमन्ते, किन्तु मन्दिराणां गर्भगृहान्नैव प्रविशन्ति, यत्र विराजन्ते देवानां भव्यप्रतिमाः, विद्यते गहना शान्तिर्भक्तिभावश्च। वयमपि भगवतो वेदस्य बाह्यस्वरूप एव भ्रमामः, आभ्यन्तरं सौन्दर्यमन्वेष्टुं प्रयत्नमेव न कुर्मः। मानसरस्यपि शैवलमेव गृह्णाति पान्थः। जलमध्येऽपि मीनसमूहस्तृष्णाकुलः 'अपाम्मध्ये तस्थिवासं तृष्णा विदज्जरितारम्।' (ऋ.सं. ६.८९.४)

वेदमन्त्राणामनेकार्थकताया भ्रमः— भ्रातरो भगिन्यश्च! 'अनन्ता वै वेदाः' इति श्रुतिवचनं प्रमाणीकृत्य सामान्यतो विदुषामियमवधारणास्ति यद् वेदमन्त्राणामनेकार्थाः सन्ति। वस्तुतो वेदा अनन्ताः, वेदार्थस्तु नैवानन्तः। धातूनामनेकार्थत्वादपि वेदमन्त्रस्यानेकेऽर्थाः केवलं विद्वद्भिः कल्पिता एव। वेदमन्त्राणामर्थबाहुल्यं व्याख्यातृणामसामर्थ्यमेवाभिव्यनक्ति। कस्यचित् वेदमन्त्रस्यानकार्थानां कल्पना विदुषां वैदग्ध्यमेव प्रकटयति। 'चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा' (ऋ. सं. ४.५८.३)—इति मन्त्रोव्याख्यातृभिर्यज्ञ—सूर्य—व्याकरण—काव्यप्रभृतिभिदृष्टिर्भिर्व्याख्यातः। विदुषामेषा सामान्या प्रवृत्तिर्यत्ते स्वबुद्ध्याऽर्थान्तराणि कल्पयन्तो वैदुष्यप्रदर्शने गौरवम्मन्यन्ते। किन्तु शब्दप्रधाने वेदे मीमांसकाः कल्पनागौरवं दोषास्पदं मन्यमानाः व्यञ्जनावृत्तिमपि न स्वीकुर्वन्ति। वस्तुतो वेदमन्त्रस्य साक्षात्कर्त्राभिमत एक एवार्थः बुद्ध्वैव व्याख्याकारा नानाविधानर्थान् निरूपयन्ति। एतत्तेषां वैवश्यमेव। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—इत्येव सत्यम्। वस्तुतो मन्त्रस्यैक एवार्थः, किन्तु परमार्थतस् तदर्थज्ञान कालान्तरतो व्यवहितम्। एतस्मादेव विप्राः (व्याख्याकाराः) बहुधा स्वबुद्ध्या नानाविधानर्थान् वदन्ति। कित्त्वनेन मन्त्राणामनेकार्थवत्तायाः सिद्धिः सिद्धान्तरूपेण न भवति। निरुक्तकारो भगवान् यास्को विषमस्थितावेव कस्यचिन्मन्त्रस्य अर्थान्तर द्योतनं करोति।

व्यवहारदृष्ट्या, कस्यचिन्मन्त्रस्यानेकार्थान् दृष्टवा सामान्याः पाठकाः प्रविचलन्ति। श्रीमद्भगवद्गीतायामत्र यन्निर्दिष्टं तदुपयुज्यते— 'तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्।'

पूज्यश्रीकरपात्रस्वामिवर्यैः वेदानां व्याख्यान प्रसङ्गे तेषां साम्यं श्रीमद्भागवतादिभिः सह संस्थाप्य येन प्रकारेण मन्त्राणामनेकार्थता प्रतिपादिता सा सुचिरमत्र विचारणीया विलोक्यते। तेषामियमवधारणा मूलशब्देष्वेव अत्र उध्द्रियते 'त एते वक्तुरभिप्रायवशादर्थान्यथात्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेष्वर्थेषु इयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशेष्यादश्वः साधु साधुतरञ्च वहति, एवमेवेमे वक्तृवैशेएयात् साधु साधुतराश्चार्थान् स्रवन्ति। तत्रैवं सति लक्षणोद्देश्यमात्रमेवैतस्मिन् शास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्चाध्यात्माधिदेवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदेवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः। नात्रापराधोऽस्ति। एकेन विदुषा 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्' इति श्रीमद् भागवतीयाद्यपद्यस्याष्टोत्तरशतसंख्याकानि व्याख्यानानि कृतानि। यदा स्थितिरेतादृशी पौरुषेयेषु वाक्येषु

तदा परमेश्वरीयनित्यविज्ञानभयानि वैदिकमन्त्रब्राह्मणवाक्यानि बह्वर्थानि भवेयुरित्यत्र नास्ति मनागपि विप्रतिपत्ति:। तथापि प्रामाणिकानि तानि व्याख्यानानि तात्पर्यानुगुणानि उपपत्तिमन्ति भवेयुस्तदैव ग्राह्याणि नान्यथा।'

शुक्लयजुर्वेद संहिता (१.१) या: करपात्रस्वामिभाष्यादुद्धृतमिदम्मतमापाततो यद्यप्यदुष्टं प्रतीयते, किन्तु वस्तुत एतदयुक्तमेवास्ति। पूज्यश्रीकरपात्रस्वामिपादानां वैदुष्यविषये, तपश्चरणविषये, भक्त्युत्कर्षविषये च कस्यापि हृदये सन्देहलवोऽपि न विद्यते, किन्तु अपौरुषेयाणां वेदानां सादृश्यं पौरुषेयै: श्रीमद्भागवतादिभि: सह स्थापयितुं तेषां प्रयासो नैव युज्यते। वक्तुराशयानुसारं व्याख्यानमपि काव्यादिष्वेव क्रियते युज्यते च, यतो हि तत्रैव वक्तृ—बोद्धव्यकाक्वादीनां परामर्शो निर्दिष्ट:। अश्वारोह वैशेष्यादश्वस्य प्रचलनमाश्रितोपमापि तत्र न संगच्छते, यतो हि सर्वेषां श्रद्धास्पदभूतेषु शिखरस्थेषु वेदेषु समारोहणाय न कोऽप्यश्वारोहवत् समर्थ:। श्रीमद्भागवतीयस्यैकस्य पद्यस्य अष्टोत्तरशतसंख्याकानि व्याख्यानानि सन्तु तस्य गौरवाय, किन्तु कस्यचिदपि वेदमन्त्रस्य एतावन्ति व्याख्यानानि पाठकेषु भ्रमोत्पादनमेव करिष्यन्ति। स्वत: प्रामाण्यशीलस्य वेदस्य तुलना वेदप्रामाण्ये समवलम्बितेन श्रीमद्भागवतेन सह कर्तुमित्थं नैव—नैव हि युज्यते। पुनस्तानि व्याख्यानानि प्रामाणिकानि, तात्पर्यानुगुणानि उपपत्तिमन्ति वा सन्ति, इत्यस्य निर्णयं क: करिष्यति? तस्य तदर्थमन्यस्य व्याख्यानस्य आवश्यकता भविता। व्याख्यानानां व्याख्यानानि, तेषामपि व्याख्यानानि इतिक्रमादनवस्थैव सञ्जायेत, या मूलक्षयकारिणी भविष्यति।

एतादृशीमनवस्थां सम्भाव्य एव महर्षि: पतञ्जलिर्महाभाष्येऽकथयत्—'वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति।' एतादृशस्त्वरिता वेदवक्तारो मा भवन्तु इत्येव पतञ्जलेराशय:। भगवता यास्केन स एव वेदव्याख्याने विद्वानधिकृतो यो स्वयमपि ऋषिस्तपो निरतो च भवेत्—'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।' इत्थं वेद—व्याख्याप्रसंगे स्वसम्प्रदायसंरक्षणाग्रहो, वाग्वैदग्ध्य प्रदर्शनमनावश्यकं पाण्डित्य प्रदर्शनं, हठोऽहङ्कारश्चेति प्रवृत्तय: पूर्णतया त्याज्या: सन्ति। लोके वेद—प्रसारायास्माभिरेतस्य व्याख्या सुबोध रीत्या प्रामाणिकतया च करणीया। शुद्धान्त: करणाय जिज्ञासवे व्याख्यात्रे वेदवाणी स्वयमेव स्वस्वरूपमुद्घाटयति, यथोक्तं हि—'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा।' 'ऋग्वेद: ऋग्वेदेन अधीयीत' इति न्यायेन कश्चनापि वेदमन्त्र: स्वयमेव अन्येषु मन्त्रेषु स्वाभिप्रायं प्रकटयति। पुनरपि तस्याभिप्रायस्य परीक्षणाय पोषणाय च ब्राह्मणानि निरुक्तादीनि च सन्त्येव।

साम्प्रतं राष्ट्रियदृष्टया वेदमन्त्राणामर्थैक्यं प्रति गम्भीर विचारस्यावश्यकता विद्यते, यतो हि जगति कुत्रापि कस्यचिदपि धर्मग्रन्थस्य अनेकार्थता न प्रसिद्धा। अवेस्ताया: बाइबिलस्य, कुरानस्य वाऽनेकार्थास्तैस्तैर्मतानुसारिभिर्न स्वीक्रियन्ते। नि: संशयमेते ग्रन्था: वेदवन्नातिप्राचीना: सन्ति, किन्तु धर्मग्रन्थरूपेण ते स्व—स्व समाजेषु वेदवदेव पूज्या:। ये स्वधर्मग्रन्थस्यानेकार्थान् नैवस्वीकुर्वन्ति त एव पाचात्यविद्वांसो वेदविषये नानाविधानसङ्गतानर्थान् प्रस्तुवन्ति। सम्प्रति वेदानामनेकार्थेषु समन्वयं विधाय



दीक्षान्त समारोह के अवसर पर मुख्य अतिथि श्री नरेन्द्रमोहन जी सांसद, शिष्ट परिषद् सदस्य श्री प्रेम भारद्वाज, वर्तमान कुलपति प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी, डॉ० राजकुमार रावत जी एवं अन्य

राष्ट्रियदृष्ट्या एकोऽर्थः प्रस्तोतव्यः। इदमेव युगाह्वानम्। एष सुकरो नास्ति, इत्यहं जानामि, किन्तु विद्वत्सु अर्थैक्यविषये साहमत्याय प्रयत्नोऽपि न करणीयः, इत्यत्र ममास्ति वैमत्यम्। 'नैकोमुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' इत्युक्तिरस्माकं स्वभावदोषमेवोद्घाटयति, एषा गौरवाय नास्ति। वेदमन्त्राणामर्थैक्यविषये विसंवादमयीं स्थितिमनादृत्य संवादो वाञ्छितः। वेदा अस्माकं राष्ट्रिय ग्रन्थाः गौरवग्रन्थाश्च सन्ति। तेषा गौरवं कथमनावृतं स्यात्, कथमेतेषा राष्ट्र निर्माणाय समाज कल्याणाय च सदुपयोगो भवतु इति दृष्टया विचारविमर्शोऽचिरमेव करणीयः। शास्त्रदृष्ट्या सम्प्रदायाणामाग्रहैश्च वेदानामनेकार्थता पूर्ववदेव भवतु, किन्तु सामान्यपाठकदृष्ट्या वेदानामर्थैक्यमेव समीचीनमित्यत्र नास्ति सन्देहलवोऽपि। वेदा, न केवलं विदुषां वाग्विलासाय बहुविधव्युत्पत्ति सामर्थ्यप्रदर्शनाय वाऽनुशीलनीयाः, अपितु ते सर्वेषां कल्याणायैव महर्षिभिः साक्षात्कृताः, इति दृष्ट्या पठनीयाः पाठनीयाश्च, यथोक्तं हि श्रुतावेव—'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः, उत शूद्र उतार्ये।'

सुहृदः! प्राच्यपाठशालासु विश्वविद्यालयेषु वा वेदपाठ्यक्रमे महर्षिर्दयानन्द योगिप्रवरारविन्द पं. श्रीपाददागोदरसातवलेकरप्रभृतयो भारतीयभाष्यकाराः सामान्यतस् तिरस्कृताः। वस्तुत एतेषामेव वेद—भाष्येषु वेदानां गौरवं सुरक्षितमस्ति। किन्तु सामान्यतः सर्वत्र पिटर्सन मैक्डानलाभ्यां संपादिते कालातीते वेदसङ्कलने एव प्रचलिते। कानिचिन्नवानि सङ्कलनान्यपि सन्ति, किन्तु तान्यपि अनयोरनुकरणफलान्येव। अनयोः प्रसिद्धसङ्कलनयोस्तेषामेवसूक्तानां चयनमस्ति ये पाश्चात्यपद्धत्या युज्यन्ते। एषा नीरसा पद्धतिश्छात्रेष्वरुचिमेव जनयति। साम्प्रतं तान्येव सूक्तानि पाठ्यक्रमे समावेश्यानि, येषु मानवजीवनस्याभ्युदयाय, दुष्कृतापनयनाय, सद्गुणग्रहणाय च प्रेरकसन्देशाः वैशिष्ट्येन सन्निहिताः सन्ति।

प्रो. ओम्प्रकाश पाण्डेयः
सचिवः
महर्षि संदीपनी वेदविद्या प्रतिष्ठानस्य
उज्जायिनी (उज्जैन)

(५) *किसी को खण्डित करते समय भी तुझे कोई नहीं रोक सकता है।*

न हि त्वा शूर देवा न मर्तासो दित्सन्तम्। भीमं न गां वारयन्ते।।

काण्वः कुसीदी। इन्द्रः। गायत्री। ऋक्. ८—८१—३

अर्थ—हे (शूर) शूरवीर इन्द्र (दित्सन्तं त्वा) दण्ड देने की इच्छा करने पर तुझे (न देवाः न मर्तासः) न देवता न मनुष्य, कोई नहीं रोक सकते, (न) जैसे (भीमं गाम्) भयंकर सांड (वृषभ) को (न वारयन्ते) नहीं रोक सकते हैं।

निष्कर्ष— जब परमेश्वर किसी को, किसी दृष्टिकोण से खण्डित या दण्डित करना चाहता है, तब भी उसमें कोई अड़चन नहीं डाल सकता। दित्सन्तम्—विकरणव्यत्यय, दो अवखण्डने।

(६) *स्तोता को देते समय तुझे, आदरणीय तथा वीरजन भी नहीं रोक पाते हैं।*

न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीळवः।
यद्दित्ससि स्तुवते मावते वसु नकिष्टदामिनाति ते।।

ऋक्. ८—८८—३

गौतमो नोधाः। इन्द्रः। प्रगाथः (बृहत्ती)।

अर्थ— हे (इन्द्र) ऐश्वर्यशालिन्। (यत् मावते स्तुवते वसु दित्ससि) जब आप मेरे जैसे स्तोता को कोई वस्तु या धन देना चाहता हो, (तत् ते वसु न किः आभिनाति) तब तेरी उस देन को कोई भी रोक नहीं सकता, (बृहन्तः अद्रयः) बड़े से बड़े आदरणीय व्यक्ति और (वीळवः अद्रयः) दृढ़ पर्वतों के समान अडिग वीर भी नहीं रोक सकते हैं।

(७) *किसी दुष्ट को पवित्र या यज्ञशील बनाने से भी आपको नहीं रोका जा सकता।*

न त्वा शतं चन ह्रुतो राधो दित्सन्तमामिनन्। यत्पुनानो मखस्यसे।।

अमहीयुराङ्गिरसः। पवमानः सोमः। गायत्री।। ऋक्. ९—६१—२९

अर्थ— (हे पवमान सोम) पवित्रता प्रदान करके आह्लादित करने वाले सोम! (यत् पुनानः मखस्यसे) जब आप हमें पवित्र करते हुए हमारे जीवन को यज्ञरूप बनाना चाहते हो, तब (राधः दित्सन्तम्) सफलता प्रदान करना चाहते हुए आपको (शतं चन ह्रुतः) सैंकड़ों बाधाएं अथवा कुटिलजन भी (न आभिनन्) विचलित नहीं कर सकते हैं।

निष्कर्ष— पवित्र आचरण और दृढ़संकल्प वाले व्यक्ति को भी सफल होने से कोई नहीं रोक सकता। फिर पवित्रता, प्रगति और आनन्द के सागर, सोम परमेश्वर को कौन रोक सकता है।

मनोहर विद्यालंकार
श्यामसुन्दर राधेश्याम,
५२२, कटरा ईश्वर भवन,
खारी बावली, दिल्ली—११०००६

शुक्रनीति : राजा एवं राजनय

भारतीय नीतिशास्त्र के इतिहास में शुक्रनीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। महाभारत में उशना के रूप में शुक्राचार्य की नीतियों का अनेकशः उल्लेख प्राप्त होता है। महाकवि दण्डी ने दशकुमार चरित में राजनीतिशास्त्रकारों में शुक्राचार्य को सर्वप्रथम स्थान दिया है। महाकवि अश्वघोष ने बुद्ध चरित में शुक्र तथा बृहस्पति का राजशास्त्र निर्माताओं के रूप में उल्लेख किया है। महाकवि कालिदास के अनुसार भी मनुष्य में नीति कुशलता शुक्रनीति के अनुसरण से हो सकती है। शुक्रनीतिसार का कथन है कि शुक्र की नीति को छोड़कर अन्य नीतियाँ कुनीतियाँ हैं।

शुक्र के अनुसार राजा को यत्नपूर्वक नीतिशास्त्र का अभ्यास करना चाहिए। नीतिशास्त्र के अतिरिक्त जितने शास्त्र हैं वह सब व्यवहार के एक अंश को बताने वाले हैं परन्तु यह धर्म, अर्थ तथा काम का प्रधान कारण एवं मोक्ष देने वाला है। नीति के द्वारा ही राजागण शत्रुओं को जीतने एवं प्रजा को प्रसन्न करने वाले होते हैं।

अतः सदानीतिशास्त्रगभ्यसेत्नतो नृपः।
यद्विज्ञानान्नृपाद्याश्च शत्रुजिल्लोकरंजकाः।।

शु. नी. १/६

नीति के ज्ञान की आवश्यकता की ओर संकेत करते हुए शुक्र का कथन है कि जिस प्रकार भोजन के बिना प्राणियों के देह की स्थिति नहीं रह सकती उसी प्रकार लोक व्यवहार की स्थिति नीतिशास्त्र के बिना सम्भव नहीं है। यह लोगों के सम्पूर्ण अभीष्ट को सिद्ध करने वाला है।

सर्वलोकव्यवहारस्थितिर्नीत्या बिना न हि।
यथाऽशनैर्विना देहस्थितिर्न स्याद्धिदेहिनाम्।।

शु. नी. १/११

यद्यपि सामान्य मनुष्य के भी कार्यों की सिद्धि नीति द्वारा ही होती है। परन्तु राजाओं के लिए यह विशेष महत्त्व का है। नीतिरहित होना राजा के लिए भय प्रदान करने वाला है इससे उसकी सैन्य शक्ति का ह्रास भी होता है।

अनीतिरेव सच्छिद्रं राज्ञो नित्यं भयावहम्।
शत्रुसंवर्धनं प्रोक्तं बलह्रासकरं महत्।।

शु. नी. १/३५

राजा का प्रधान धर्म है– प्रजा का पालन एवं दुष्टों का दमन करना। यह दोनों ही कार्य नीतिशास्त्र के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं हैं।

नृपस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालनम्।
दुष्ट निग्रहणं नित्यं न नीत्याऽतो बिना ह्युये।।

शु.नी. १/१४

जिस प्रकार कुपथ्य भोजन करने वालों को अवश्य ही रोग उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार नीति से रहित मनुष्यों के भी अनेक शत्रु बन जाते हैं। जो राजा नीति का त्याग कर उच्छृंखल व्यवहार करता है वह सदैव दु:ख भोगता है। ऐसे राजा की सेवा करने से कोई फल नहीं मिलता प्रत्युत: ऐसे राजा की सेवा तलवार की धार चाटने के समान हानिकारक है।

नीतिं त्यक्त्वा वर्त्तते यः स्वतंत्रः स हि दुःखभाक्।

शु.नी. १/१६

जिस राजा के पास नीति एवं बल दोनों ही होते हैं उस के पास चारों ओर से लक्ष्मी आती हैं।

यत्र नीतिबले चोभे तत्र श्रीस्सर्वतोमुखी।।

शु.नी. १/१७

यदि राजा नीति के मार्ग का अवलम्बन नहीं लेता है जिससे उस के राष्ट्र, सेना और मन्त्री गणों में परस्पर भेद हो जाता है तो यह उसकी अज्ञानता का द्योतक है इसलिए राजा को सावधानी से नीति के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए–

भिन्नं राष्ट्रं बलं भिन्नं भिन्नोऽमात्यादिकोगणः।
अकौशल्यं नृपस्येतद्नीतेर्यस्य सर्वदा।।

शु.नी. १/१९

सात्विकादि भेद से राजा के तीन भेद हैं–सात्विक, राजस तथा तामस। तप उपरोक्त भी तीन प्रकार का होता है। जो राजा जिस प्रकार का तप करता है उसके अनुसार वह सात्विक, राजस अथवा तामस गुणवाला होता है।

सात्विकं राजसं चैव तामसं त्रिविधं नृपः।
यादृक्तपति योऽत्यर्थ तादृग् भवति वै नृपः।।

शु.नी. १/२९

जो राजा अपने धर्म में निरत प्रजाओं का पालक, सम्पूर्ण यज्ञों को करने वाला, शत्रुओं को जीतने वाला, दानवीर, क्षमावान्, शूर, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति न रखने वाला एवं वैराग्य युक्त होता है, वह सात्विक कहलाता है। इस प्रकार का नृप अंत में मोक्ष को प्राप्त करता है।

योो हि स्वधर्म निरतः प्रजानां परिपालकः।
यष्टा च सर्वयज्ञानां नेता शत्रुगणस्य च।।

दानशौण्डः क्षमी शूरो निःस्पृहो विषयेष्वपि।
विरक्त सात्विकः स हि नृपोऽन्ते मोक्षमन्वियात्।।

शु. नी. १/३०/३१

उपरोक्त गुणों से विपरीत गुण वाला राजा तामस कहलाता है। वह दयारहित, मद से उन्मत्त, हिंसा युक्त तथा सत्य से रहित होता है। ऐसा राजा अन्त में नरक को प्राप्त करता है।

विपरीतस्तामसः स्यात् सोऽन्ते नरकभाजनः।
निर्घृणश्च मदोन्मत्तो हिंसकः सत्यवर्जितः।।

शु.नी. १/३२

दाम्भिक, लोभी, विषयी, ठग, शठ, मन से अन्य एवं बाहर से अन्य व्यवहार करने वाला, वाणी एवं कर्म से कलहप्रिय, स्वतन्त्र, नीतिहीन राजा राजस कहलाता है। वह मृत्यु के पश्चात् तिर्यग्योनि या सर्पादि योनि या स्थावर योनि को प्राप्त करता है।

राजसो दांभिको लोभी विषयी वंचकश्शठः।
मनसाऽन्यश्च वचसा कर्मणा कलहप्रियः।।
नीचप्रियः स्वतंत्रश्च नीतिहीनश्छलांतरः।
स तिर्यकत्वं स्थावरत्वं भविताऽन्ते नृपाधमः।।

शु.नी. १/३३, ३४

इस जगत् की वृद्धि का कारण राजा है। जो प्रजाओं के नेत्रों को आनन्द देने वाला है। जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्र की वृद्धि का कारण है उसी प्रकार राजा प्रजाओं के अभ्युदय का कारण है।

राजाऽस्य जगतो हेतुर्वृद्धयैवृद्धाभिसंमतः।
नयनानन्दजनकः शशांक इव तोयधेः।।

शु.नी. १/६४

यदि लोक में उत्तम रीति से नेता या राजा प्रजाओं को अपने—अपने धर्म पर ले चलने वाला न हो तो समुद्र में बिना कर्णधार नौका की भांति प्रजा नष्ट हो जाती है। बिना राजा के प्रजा अपने धर्म में स्थित नहीं रहती है और पृथ्वी पर बिना प्रजा के राजा भी शोभित नहीं होता है। न्याय में प्रवृत्त रहने वाला राजा स्वयं को तथा प्रजा को त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से युक्त करता है। इसके विपरीत अन्याय में प्रवृत्त रहने वाला राजा अपने को तथा प्रजाओं को त्रिवर्ग से रहित करके नष्ट कर देता है। धर्म में तत्पर राजा देवांश अर्थात् देवताओं के अंश से उत्पन्न हुआ कहलाता है। इसके विपरीत अधर्म में तत्पर राजा राक्षसों के अंश से उत्पन्न, धर्म विनाशी

एवं प्रजा को पीड़ा पहुंचाने वाला कहा जाता है।

यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च राक्षसाम्।
अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीड़ाकरो भवेत्।।

शु.नी. १/७०

इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्र, कुबेर इन लोकपालों के अंशों को धारण करके अपनी तपस्या के द्वारा राजा समस्त संसार का स्वामी होता है। वह अपने भाग या कर को ग्रहण करने वाला तथा लोक की रक्षा करने में कुशल इन्द्र के समान होता है। जिस प्रकार वायु सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध की प्रेरक है, उसी प्रकार राजा सत्कर्मों अथवा दुष्कर्मों का प्रेरक है। जिस प्रकार सूर्यदेव अन्धकार के नाशक है उसी प्रकार राजा अधर्म का नाशक एवं धर्म का प्रवर्तक है।

वायुर्गन्धस्य सदसत्कर्मण: प्रेरको नृप:।
धर्मप्रवर्तकोऽधर्मनाशकस्तमसो रवि:।।

शु.नी. १/७३

धर्म से पवित्र राजा पृथ्वी का पालन करके उसका भोग करता है। अधर्म से राजा नहुष इन्द्रलोक को प्राप्त करके भी रसातल को पहुंच गया। अधर्म से राजा वेन भी नष्ट हो गया। धर्म से राजा पृथु की वृद्धि हुई। अत: राजा को धर्म को ही प्रधान मानकर अर्थ के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

राजा का प्रधान धर्म है—प्रजारंजन। यदि राजा में पिता, माता, गुरु, भ्राता, बन्धु, कुबेर तथा यम के गुण न हो तो वह राजा कहलाने योग्य नहीं है।

पिता—माता गुरुर्भ्राता बन्धुर्वैश्रवणो यम:।
नित्यं सप्तगुणैरेषां युक्तो राजा न चान्यथा।।

शु.नी. १/७७

राजा का कर्त्तव्य है कि अपनी प्रजा को गुणवान् बनाना। जिस प्रकार पिता अपनी सन्तान को गुणवान बनाता है, जिस प्रकार माता अपने पुत्रों के अपराधों को क्षमा करके उनको पुष्ट बनाती है उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा को समृद्ध बनाना चाहिए।

गुणसाधनसंदक्ष: स्वप्रजाया: पिता यथा।
क्षमयित्र्यपराधानां माता पुष्टिविधायिनी।।

शु.नी. १/७८

जिस प्रकार गुरु अपने शिष्य का सदैव हित चिन्तन करता है उसी प्रकार राजा को प्रजा के हित का चिन्तन करना चाहिए। जैसे भ्राता पिता के धन में से शास्त्रानुसार अपने भाग को ग्रहण करने वाला होता है, उसी प्रकार राजा को प्रजा से भाग या कर ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार बन्धु अपने बन्धु की शरीर, स्त्री धन तथा गुप्त रहस्य की रक्षा करने वाले मित्र के समान होता



गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा श्री सदानन्द जी, कुलाधिपति पं० हरबंशलाल जी, मुख्य अतिथि श्री नरेन्द्रमोहन जी, आचार्य प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री जी एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान श्री विमल वधावन

है उसी प्रकार राजा को सदैव प्रजा की रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए। राजा को समय पड़ने पर प्रजा को धन–धान्य से पूर्ण करना चाहिए। कुबेर के समान धन देने वाला एवं यम के समान अपराधी को यथार्थ दण्ड देने वाला होना चाहिए।

आत्मस्त्रीधनगुह्यानां गोप्ता बन्धुस्तु मित्रवत्।
धनदस्तु कुबेरः स्याद्येमः स्याच्च सुदण्डकृत।।

शु.नी. १/८०

जो नृप प्रजा के अपराधों को क्षमा करने वाला होता है वह क्षमाशील कहलाता है। जो दुष्टों का दमन करने वाला है वह शक्तिमान् है। सम्पूर्ण गुणों से युक्त होने पर भी यदि राजा क्षमा से रहित है तो वह शोभाहीन है। शुक्र का कथन है कि गुणों के आधार पर राजा देवांश एवं रक्षोंऽश होता है। जो राजा अपने दुर्गुणों का परित्याग कर निन्दा को सहन करने वाला, दान, मान तथा सत्कार से अपनी प्रजा को सदा प्रसन्न रखने वाला, इन्द्रियों का दमन करने वाला, शूर, शत्रुओं का नाशक, धारणाशक्ति सम्पन्न, ज्ञान तथा विज्ञान से युक्त नीच गुणों या नीच संगति से रहित, दूरदर्शी, सुन्दर नीति से युक्त वृद्धों की उपासना करने वाला, गुणियों से सेवित होता है उसे देवांश या देवताओं के अंश से उत्पन्न होने वाला समझना चाहिए। इन गुणों से विपरीत राजा रक्षोंऽश अर्थात् राक्षसों के अंश से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। ऐसा राजा नरक को प्राप्त करता है। जिस अंश का राजा होता है, उसी अंश के उसके सहायकगण भी होते हैं।

दान्तः शूरश्च शास्त्रास्त्रकुशलोऽरिनिष्दनः।
अस्वतन्त्रश्च मेधावी ज्ञानविज्ञानसंयुतः।।
नीचहीनों दीर्घदर्शी वृद्धसेवी सुनीतियुक्।
गुणिजुष्टस्तु यो राजा स ज्ञेयो देवतांशकः।।
विपरीतस्तु रक्षोंऽशः स व नरकभाजनः।
नृपांशसदृशो नित्यः तत्सहायकगणः किल।।

शु.नी. १/८४, ८५, ८६

राजा सर्वप्रथम अपने को विनय से युक्त करे। तत्पश्चात् पुत्रों, मंत्रियों एवं भृत्यों को और अन्त में प्रजाओं को विनय से युक्त करे। नीति का मूल विनय है और शास्त्र में निश्चय होने से विनय होता है। विनय का मूल इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है। अतः जो इन्द्रियजयी है, वही शास्त्रज्ञान प्राप्त करता है।

आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत्।
ततः पुत्रांस्ततोऽमात्यांस्ततो भृत्यांस्ततः प्रजाः।।

शु.नी. १/९२

जिस राजा की प्रजा सदा अनुरक्त रहने वाली होती है और जो स्वयं प्रजापालन में तत्पर रहता है, विनय युक्त है, वह अत्यधिक श्री को प्राप्त करता है। जैसे कभी इन्द्राणी बिना इन्द्र के

विधवा रूप में नही रह सकती हैं, वैसे ही बिना राजा के प्रजा भी नहीं रह सकती है।

यथा न विधवेन्द्राणी सर्वदा तु तथा प्रजा:।

शु.नी. १/९४

राजा का प्रधान धर्म है कि वह इन्द्रिय जय करे। नाना विषय रूपी जंगलों में दौड़ते हुए मन को मथ डालने वाले इन्द्रियरूपी हाथी को ज्ञान रूपी अंकुश से अपने वश में करे। यदि राजा एक मन को जीतने में असमर्थ है तो वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को कैसे जीत सकता है ? कामादि पर जय प्राप्ति की इच्छा रखने वाले राजा के लिए उचित है कि वह प्रजापालन के लिए काम का, शत्रुनाश के लिए क्रोध का, सैन्य रखने में लोभ का प्रयोग करे।

कामः प्रजापालने च क्रोधः शत्रुनिबर्हणे।
सेनासंधारणे लोभो योज्यो राजा जयार्थिना।।

शु.नी. १/११७

राजा कभी परस्त्री संग में काम को, अन्य की धन प्राप्ति में लोभ को तथा अपनी प्रजा को दण्ड देने में क्रोध न करे । राजा शास्त्रों का अध्ययन करके तदनुसार अपने मन को विषयों से पूर्णरूप से रोक कर परलोक और इहलोक में सुख पाने के लिए अपने आचरण को उचित रूप से करे।

शुक्र के अनुसार राजा को आठ प्रकार के व्यवहारों का निर्देश किया गया है– १. दुष्टों का निग्रह करना, २. दान देना, ३. प्रजा का परिपालन, ४. राजसूयादि यज्ञ करना, ५. न्यायपूर्वक कोश बढ़ाना, ६. राजाओं से कर वसूल करना, ७. शत्रुओं का मानमर्दन करना, ८. निरन्तर राज्य की वृद्धि करना।

दुष्टनिग्रहणं दानं प्रजायाः परिपालनम्।
यजनं राजसूयादेः कोशानां न्यायतोऽर्जनम्।।
करदीकरणं राज्ञां रिपूणां परिमर्दनम्।
भूमेरूपार्जनं भूया राजवृत्तं तु चाष्टधा।।

शु.नी. १/१२३, १२४

जिन राजाओं ने अपनी सैन्य वृद्धि नहीं की, राजाओं को अपने अधीन नहीं बनाया, प्रजाओं का भलीभांति पालन नहीं किया, वे तैल रहित तिल की भांति तुच्छ कहलाते हैं। जिस राजा के अनुचित कार्यों एवं व्यवहार से प्रजा उद्विग्न हो उठती है एवं जिस के कार्यों की निन्दा करती है, जिस राजा को धनी तथा गुणी लोग त्याग देते हैं वह नृपाधम कहलाता है।

जो राजा अपराध को सहन न करने के कारण उग्र दण्ड देता है, धन हरण कर लेता है। अपने दुर्गणों के सुनने पर कहने वाले को पीड़ा पहुंचाता है, प्रजा उससे क्षुभित हो जाती है और राजा से प्रेम व आदर हटा लेती है। अतः राजा का कर्त्तव्य है कि अपने गुप्तचरों को भेजकर उनसे

अपने आचरणों को प्रजा पर प्रकट करावे और यह जाने कि कौन व्यक्ति मेरे आचरण को दोषयुक्त बताते हैं। मन्त्री आदि किन आचरणों से मेरी प्रशंसा करते हैं। मेरे गुणों से किन लोगों की मेरे में कैसे प्रीति है ? मेरे अवगुणों से किन लोगों की कैसी अप्रीति है ? इसे गूढ़ पुरूषों या गुप्तचरों द्वारा ज्ञात करके दुर्गुणों को त्याग दे परन्तु निन्दा करने वाली प्रजा का कभी तिरस्कार न करे। समर्थ होते हुए भी रामचन्द्र ने लोकोपवाद के भय से पतिव्रता सीता का परित्याग किया और अपवाद लगाने वाले धोबी के लिए थोड़ा भी दण्ड नहीं दिया।

मयि कीदृक् च संप्रीतिः केषामप्रीतिरेव वा।
मभागुणैर्गुणैर्वापि गूढं संश्रुत्स चाखिलम्।।
चारैः स्वदुर्गुणं ज्ञात्वा लोकतः सर्वदानृपः।।

शु.नी. १/१३१, १३२

जो राजा सदा बुद्धिमानों से द्वेष रखता है और वंचकों से प्रसन्न रहता है, अपने दुर्गुणों को नहीं समझता है, वह अपना नाश करने के लिए कारण बन जाता है। राजा को दान न देने से, अपमान से , छल से, कटुबचन से, प्रबल दण्ड से प्रजा उसका परित्याग कर देती है। अत्यन्त भीरू, दीर्घसूत्री, प्रमादी तथा व्यवसनी होने से विषयभोगों में आसक्त रहने वाले राजा की प्रजा सेवा नहीं करती है वरन् उसका परित्याग कर देती है।

काम, क्रोध, मोह, लोभ, मान और मद इनकी षडवर्ग संज्ञा है। इनके परित्याग से राजा सुखी होता है। काम से दण्डक्य राजा, क्रोध से जनमेजय, लोभ से राजर्षि ऐल, मोह से वातापि नामक असुर, मान से पुलस्त्यवंशी रावण, मद से दम्भीद्भव नामक राजा का विनाश हुआ।

कामक्रोधस्तथा मोहो लोभो मानो मदस्तथा।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः।।

शु.नी. १/१४३

सज्जनों के द्वारा सादर सेवित धर्म और अर्थ की वृद्धि करता हुआ, अपनी इन्द्रियों को वश में करता हुआ राजा गुरूजनों का सेवन करे। गुरूओं की सेवा से शास्त्र–ज्ञान होता है और शास्त्र ज्ञान से विनय की वृद्धि होती है। अत: विद्या से उत्पन्न विनय से युक्त राजा सज्जनों द्वारा प्रशंसित होता है।

डॉ. (श्रीमती) सुशीला सिंह
रीडर– संस्कृत विभाग
तिलकधारी महाविद्यालय,
जौनपुर (उ.प्र.)

श्रीमद् भगवद् गीता में भक्ति

भगवद् गीता विश्व वाङ्मय का मुकुट है, सारी मानव जाति की अमूल्य निधि है और संसार के प्रत्येक व्यक्ति की जीवन यात्रा के लिए अक्षय पाथेय है। इस ग्रन्थ रत्न की कीर्ति कौमुदी ने न केवल भारत वर्ष को अपितु समस्त विश्व को आलोकित किया है। गीता भारतीय मनीषा का परमोज्ज्वल रूप है। इस देश के प्रातः स्मरणीय ऋषि–मुनियों ने दिव्य–साधनाओं, तपस्याओं द्वारा जिन जीवन सत्यों का साक्षात्कार किया और उन्होंने ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि में जो–जो अमृतमय उपदेश दिये गीता उन सबका सार है –

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

गीता के सम्बन्ध में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने यंग–इंडिया में लिखा था– **"मुझे भगवद्गीता में एक ऐसी सान्त्वना मिलती है जो बाइबल के 'सर्मन आन दी मांउट' तक में नहीं मिलती। जब निराशा मेरे सामने आ खड़ी होती है, जब मैं अपने को बिल्कुल एकाकी अनुभव करता हूँ , जब मुझे प्रकाश की कोई किरण दिखलायी नहीं पड़ती, तब मैं गीता की शरण लेता हूँ और तब मुझे गीता में कोई न कोई ऐसा श्लोक दीख पड़ता है, जिसे पढ़कर मैं विषम परिस्थितियों में भी मुस्कराने लगता हूँ।"**

वस्तुतः गीता हिन्दू धर्म के किसी एक सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व नहीं करती, अपितु समग्र रूप में न केवल हिन्दू धर्म का, बल्कि जिसे धर्म कहा जाता है उस सबका, उसकी उस विश्वजनीनता के साथ प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें काल और देश की कोई सीमाएं नहीं हैं।

गीता की उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन टीका शंकराचार्य की (ईस्वी सन् ७८८–८२०) है। वे इस बात पर बल देते हैं कि संसार में वास्तविकता या ब्रह्म एक ही है, उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है, यह दृश्यमान् जगत् अपने आप में वास्तविक नहीं है, इसकी प्रतीति उन्हीं को होती है, जो अज्ञान में (अविद्या) जीवन बिताते हैं। इस संसार में कर्म व्यर्थ हैं और केवल इस ज्ञान से कि ब्रह्म और जीव एक है, हमें मुक्ति मिल सकती है। जब यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब जीव विलीन हो जाता है, भटकना समाप्त हो जाता है और हमें पूर्ण आनन्द और परम सुख प्राप्त होता है।



भारत सरकार के पूर्व शिक्षा राज्य मंत्री श्री जयसिंहरावजी गायकवाड़, विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा माननीय श्री सदानन्द जी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान कैप्टिन देवरत्न आर्य एवं सांसद श्री संजय सिंह जी

शंकराचार्य का मत है कि जहां मन को शुद्ध करने के लिए साधन के रूप में कर्म आवश्यक है, वहां ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कर्म दूर छूट जाता है। ज्ञान और कर्म एक दूसरे के ठीक वैसे ही विरोधी हैं, जैसे प्रकाश और अन्धकार। (तस्माद् गीतासु केवलदेव तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्ति: न कर्मसमुच्चितात्। भगवद् गीता की शंकराचार्य की टीका २,११)उनका यह विश्वास है कि वैदिक विधियां केवल उन लोगों के लिए हैं, जो अज्ञान और लालसा में डूबे हुए है। (अविद्या कामवत् एव सर्वाणि श्रौतादीनि दर्शितानि।)

मुक्ति के अभिलाषियों को कर्मकाण्ड की विधियों का परित्याग कर देना चाहिये। शंकराचार्य के मतानुसार गीता का उद्देश्य इस बाह्य (नामरूपमय) संसार का पूर्ण दमन है। (गीता शास्त्रस्य प्रयोजनं परं नि:श्रेयसम्, सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपराम लक्षणम्। (भगवद् गीता पर शंकराचार्य की टीका की भूमिका।)

रामानुज ने अपनी टीका में संसार की अवास्तविकता और कर्मत्याग के मार्ग का खण्डन किया। यद्यपि रामानुज गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका मत है कि गीता का मुख्य कार्य विषय भक्ति ही है। रामानुज ने पापों के प्रति घृणा, भगवान् को प्राप्त करने की तीव्र लालसा, परमात्मा के सर्वविजयी प्रेम में विश्वास, श्रद्धा की अनुभूति पर बल दिया है।

माधव ने गीता पर दो ग्रन्थों की रचना की– 'गीता भाष्य' और 'गीता तात्पर्य' । इनके मतानुसार गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य भक्ति मार्ग है।

निम्बार्क और वल्लभाचार्य ने भी गीता में भक्ति तत्त्व की प्रधानता स्वीकार की है।

भगवद् गीता पर इनके अतिरिक्त अनेक मनीषियों ने टीकायें लिखी हैं। किसी ने भक्ति को, किसी ने ज्ञान को और किसी ने कर्म को प्रधान विषय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वस्तुत: पूर्णता के लक्ष्य तक पहुंचने के ये तीन मार्ग हैं। ये हैं वास्तविकता का ज्ञान, भगवान् की उपासना, भक्ति या अपने संकल्प को दिव्य प्रयोजन के अधीन कर देना (कर्म)। स्थूल दृष्टि से देखने पर ये तीनों भिन्न–भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं, अपितु ये एक परम तत्त्व को प्राप्त करने के तीन उपाय हैं, इनमें कोई विरोध नहीं। बात यह है कि भगवान् कृष्ण ने गीता में इन तीनों सिद्धान्तों का इस रूप में प्रतिपादन किया है कि जब हम ज्ञान योग का अध्ययन करते है, तो उसी की श्रेष्ठता लगने लगती है और जब कर्मयोग का सन्देश सामने आता है तो वही सर्वोपरि दिखाई देता है और भक्ति योग का उपदेश श्रवण करते हैं तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भक्ति की गोद में समाया हुआ दृष्टिगोचर होता है।

इस लेख में हम भक्ति मार्ग की थोड़ी सी चर्चा करेंगे। भक्ति मार्ग की विशेषता बताते हुए

सन्तों ने कहा है कि यह प्रभु प्राप्ति का सबसे सरल उपाय है जो कि शिक्षित, अशिक्षित, बलवान, दुर्बल, निर्धन—धनवान सबके लिये सुगम है। इसका चित्रण निम्न पद्य में दर्शनीय है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का,
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरूग्रस्य किं पौरूषम्।
कुब्जायाः कमनीय रूपमधिकं किं तत् सुदाम्नो धनं,
भक्त्या तुष्यति केवलं न तु गुणैः भक्तिप्रियो माधवः।।

अर्थात् व्याध ने कौन से अच्छे आचरण किये थे ? ध्रुव की आयु ही क्या थी ? गजेन्द्र का ज्ञान कितना था ? उग्रसेन ने क्या वीरता दिखाई थी ? कुब्जा की क्या सुन्दरता थी ? सुदामा के पास कितना धन था ? भगवान् तो भक्ति के प्रेमी हैं और वे भक्ति से प्रसन्न होते हैं।

एक पद्य में शंकराचार्य ने बहुत सुन्दर कहा है—

नरत्वं देवत्वं भगवनमृगत्वं मशकता,
पशुत्वं कीटत्वं भवतु विहगत्वादि जननम्।
सदा त्वत्पाराब्जस्मरण परमानन्दलहरी,
विहारासक्तं चेद् हृदयमिह किं तेन वपुषा।।

यह भक्ति का अतिशयोक्ति पूर्ण प्रतिपादन है। भक्ति का स्वरूप हमें सर्वप्रथम ऋग्वेद की स्तुति, प्रार्थना उपासना परक ऋचाओं में दिखाई देता है। प्रभु—भक्ति की इस अविच्छिन्न धारा का परमोज्ज्वल स्वरूप गीता में परिलक्षित होता है, जब भगवान् कृष्ण कहते हैं—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।

(९—३१)

यही बात अष्टम अध्याय में भी अभिव्यक्त हो रही है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।
अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।

(८—१३, १४)

भक्ति शब्द भज् सेवायाम् धातु से बना है जिसका अर्थ है— सेवा करना और भक्ति शब्द का अर्थ हुआ भगवान् की सेवा करना। यह प्रभु के प्रति प्रेमपूर्ण अनुराग है। नारद ने भक्ति की परिभाषा देते हुए इसे परमात्मा के प्रति उत्कट प्रेम बताया है। (सा परानुरक्तिरीश्वरे)

गीता में भक्ति बौद्धिक प्रेम नहीं हैं, अपितु समस्त कर्मों का, यज्ञादि का, तप—त्यागादि का प्रभु चरणों में सर्वात्मना समर्पण है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्वमदर्पणम्।।

(९/२७)

जो भक्त इस प्रकार से अपना सर्वस्व समर्पित करते हुए केवल प्रभु की शरण में रहते हैं, वे चाहे निम्न कुलोत्पन्न हों, स्त्री, शूद्र अथवा अन्य कोई हों, वे परम पद को अवश्य प्राप्त होते हैं।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु: पापयोनय:।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।

(९/१३२)

भक्ति के इस स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मन्मना भव मद् भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण:।।

अर्थात् तू मन से निरन्तर मेरा मनन कर, मेरा भक्त बनकर मेरा ही भजन कर, मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार स्वयं को युक्त करके मत्परायण होकर तू मुझे प्राप्त कर लेगा।

बारहवें अध्याय का तो प्रारम्भ ही अर्जुन की इस जिज्ञासा के साथ होता है कि निर्गुण उपासना एवं सगुण उपासना में कौन उत्तम है अर्थात् दोनों प्रकार के उपासकों में उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ?

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा:।।

(१२/१)

अर्जुन की इस जिज्ञासा का समाधान ही इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है जिसका उपक्रम एवं उपसंहार भगवान् की भक्ति में ही हुआ है। इस अध्याय के केवल तीन (३—५) श्लोकों में ज्ञान के साधन का वर्णन है और वह भी ज्ञान—योग तथा भक्ति—योग की परस्पर तुलना के लिए है। यहाँ भगवान् कृष्ण स्पष्ट रूप से ज्ञान योग की अपेक्षा भक्ति—योग की श्रेष्ठता बताते हैं। जो भक्त अपना चित्त परमात्मा में ही समाहित कर देते हैं, वे अतिशीघ्र ही मृत्युभय से परिपूर्ण संसारसिन्धु को पार कर जाते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।

(१२—७)

भक्ति के लिये चित्त का समाधान आवश्यक है और यह चित्त का समाधान निरन्तर अभ्यास से ही सम्भव है। यदि किसी कारणवश अभ्यास से भी चित्त समाहित न हो पाये, तो यही समझकर भगवद् भक्ति करनी चाहिए कि सभी कर्म भगवान् के लिए ही हैं। यहाँ कर्मफल त्याग को भक्ति के साधन के रूप में माना गया है। इस प्रकार भक्ति का प्रतिपादन करने के पश्चात् भक्त की विशेषताओं का विस्तृत एवं विशुद्ध वर्णन किया गया है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि गीता में कर्म, ज्ञान तथा भक्ति तीनो ही मार्गों को मोक्ष प्राप्ति के लिये ग्राह्य बताया है तथापि गीताकार का यह सुनिश्चित मत है कि भक्ति मार्ग ही सबसे सुगम और श्रेष्ठ है। मानव जीवन जब दुःखों की मेघमाला से आच्छन्न हो जाता है तब प्रभु भक्ति ही सबसे बड़ा सहारा होता है। गीता में स्वयं भगवान् ने कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।

(७/१६)

इस प्रकार संसार के प्राणी भक्तिरूपी नौका पर आरूढ़ होकर भवसिन्धु को पार कर सकते हैं।

डॉ. महावीर
प्रोफेसर—संस्कृत एवं कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

"गुरुकुल कांगड़ी" उत्तराञ्चल का गौरव

महाकवि कालिदास ने अपने "कुमार सम्भव" की रचना निम्न श्लोक से करते हुए एक मानदण्ड स्थापित कर दिया। वह मानदण्ड है—"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।" इस पुण्यभूमि भारत वर्ष में उत्तर की पर्वतमालाओं व पावन नदियों का महत्त्व सदा ही रहा है। वास्तव में यह उत्तराञ्चल भारतवर्ष का गौरव है। अथर्ववेद के भूमि सूक्त में भी इन पर्वतों, नदियों, वनों, वनस्पतियों, शिलाओं व शर्करा (रेत) का गौरव गान किया गया है। यथा—गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।। १२.१.१ । हे मातृ भूमि ! तेरी पहाडियाँ, तेरे हिमधवल पर्वत, तेरे वन उपवन हमारे लिए सुखमय हों। महादेव शिव तो शिवालय के अधिपति ही थे। उनके राज्य की सीमा हिमाचल प्रदेश तक फैली हुई थी। आज भी इन शिवालिक पर्वतमालाओं का महत्त्व कम नहीं आंका जा सकता। राजा भगीरथ भी भिखारी व तपस्वी बन महाराज शिव को प्रसन्न कर गंगा की धारा को उनके राज्य की परिधि में से नीचे मायापुर के प्रदेश तक लाए थे। यही मायापुरी हरिद्वार (गंगाद्वार) व कनखल की महत्त्वपूर्ण नगरी है। यहीं अंग्रेजी राज में काटले साहब ने "डाम" बना कर गंगनहर निकाली थी, जो सारे पश्चिमोत्तर को हरियाली प्रदान करती है। हरिद्वार का महत्त्व इससे तो है ही किन्तु चाहे हम देश में हों अथवा विदेश में— जब भी गुरुकुल कांगड़ी का नाम लिया जाएगा तो हरिद्वार का नाम भी साथ में अवश्य लिया जाएगा और हरिद्वार का नाम लेने पर गुरुकुल कांगड़ी को भी हम विस्मृत नहीं कर सकेंगे।

यह वह गुरुकुल कांगड़ी है जहाँ ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के प्रधानमंत्री सर रैम्जे मैकडोनल्ड खींचे चले आए थे। जिसे तत्कालीन वायसराय चेम्स फोर्ड ने बड़े मनोयोग से देखा था। जिसे देखने के लिए महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका से आए थे। जिसके शान्त वातावरण और प्यार के दीनबन्धु एण्डूज जैसे विद्वान् कायल हो गए थे। जिस गुरुकुल के लिए कभी यह प्रसिद्ध था कि यहाँ ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ने के लिए बम्ब तैयार किए जाते है। जिस गुरुकुल में कभी श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी जैसे प्रसिद्ध क्रान्तिकारी वेदाध्ययन व वेदाध्यापन कराते रहे और जिनके बनाए वर्षों पूर्व चित्र आज भी गुरुकुल पुस्तकालय की शोभा बढ़ा रहे हैं।

वस्तुतः यह गुरुकुल आज से ही नहीं अपितु अपने स्थापना काल से ही उत्तराञ्चल (हरिद्वार) का गौरव रहा है। भारतवर्ष का कोई ऐसा महान् नेता न होगा जैसे महात्मा गांधी, पं. मदनमोहन मालवीय, अणे, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, श्री क्षितिमोहन सेन, पं. जवाहर लाल नेहरू, के.एम. मुंशी, गोविन्दवल्लभ पन्त, अनन्तशयनम अयंगर, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, दौलत सिंह कोठारी, लालबहादुर शास्त्री, मोरारजी देसाई, डॉ. सम्पूर्णानन्द, अलगूराय शास्त्री, चन्द्रभानु गुप्त,

गाडगिल, सेठ गोविन्द दास, सनातन धर्म के कथावाचक पं. राधेश्याम, ज्ञानी जैल सिंह, इन्दिरा गांधी, बलराम जाखड़, उत्तराञ्चल के वर्तमान राज्यपाल श्री सुरजीत सिंह बरनाला वर्तमान में श्रीमती सुषमा स्वराज आदि जो गुरुकुल में न आए हों। वर्तमान भारत के प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी पं. इन्द्र जी के कुलपतित्व काल में हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आए थे। इन महानुभावों के अलावा एक लम्बी सूची हमारे पास है जिनके नाम देने में हम असमर्थ हैं।

आज समय बदल गया है। विश्व बदल गया है। आदमी बदल गया है। जीवन मूल्य बदल गए हैं। कुल बदल गए हैं। संस्थायें बदल गयी हैं। काल का प्रवाह सतत् गतिशील है। "कालस्य कुटिला गति" काल की गति बड़ी कुटिल है। वह अंग्रेजी हुकूमत का काल–खंड था। आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व हरिद्वार से ३ मील दूर बिजनौर जनपद में नीलगिरि पर्वत (चण्डी) की उपत्यका में कांगड़ी ग्राम के दक्षिण में गंगा के पावन तट पर महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द जी) ने मुंशी अमन सिंह जी द्वारा प्रदत्त कण्टकाकीर्ण वन खण्ड में गुरुकुल की नींव डाली थी। "उपह्वरे गिरीणाम् संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽजायत।" वेद की इस पावन ऋचा ने स्वामी श्रद्धानन्द जी को उत्तराञ्चल के सुरम्य, शान्त, पवित्र, हरे–भरे वातावरण की ओर प्रेरित किया था। इससे पूर्व १९०० में गुजरांवाला में पञ्जाब (पाकिस्तान) में इसकी एक पाठशाला के रूप में स्थापना कर दी गयी थी और वहाँ के आचार्य पं. गंगादत्त जी बना दिए गए थे। जो बाद में पुण्यभूमि के गुरुकुल के प्रथम मुख्याध्यापक रहे। **इस प्रकार इस गुरुकुल विद्यालय को आज लगभग १०२ वर्ष हो चुके है।** किन्तु इस गुरुकुल को दान में भूमि दिलाने में जिन्होंने परिश्रम किया ऐसे उजड़े कनखल को बसाने वाले पञ्जाब से आए लाला भारामल के वंशज श्री किशन सिंह व वेणीप्रसाद जिज्ञासु को भुलाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार कनखल के चौधरी परिवार (मुसद्दीलाल जानकीदास आढ़ती) ने गुरुकुल के लिए जो अपनी अमूल्य सेवायें अर्पित की वे भी गुरुकुलीय इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षिरों में अंकित है। ऐसे गुरुकुल से स्नेह रखने वाले लोगों के अनगिनत उदाहरण है। जिन दानियों ने इस गुरुकुल को अमूल्य दान दिया, क्या उन्हें विस्मृत किया जा सकता है? गुरुकुल की इमारते उनके दान की मूर्तरूप में आज भी साक्षी हैं।

२२–२३ वर्ष अपनी उन्नति के शिखरों को छूता हुआ गुरुकुल बढ़ता रहा किन्तु १९२४ ई. की भयंकर बाढ़ आने के कारण पुराने गुरुकुल की इमारते नष्ट प्राय हो गयी । कुछ समय मायापुर (कनखल) में (वर्तमान डॉ. हरिराम आर्य इन्टर कॉलेज के परिसर) उस गुरुकुल की कुछ श्रेणियों का अध्ययन–अध्यापन होता रहा। किन्तु १९३० ई. में पुण्यभूमि को अन्तिम नमस्कार कर इस नवीन भूमि पर गुरुकुल फिर से फलने फूलने लगा और आज इतना विस्तार पा गया है कि सरकार से इसे डिम्ड टु बी यूनिवर्सिटी की मान्यता प्राप्त है। इस सबका श्रेय आचार्य रामदेव जी, पं. विश्म्भर नाथ जी, पं. इन्द्र जी, सत्यव्रत जी, आचार्य प्रियव्रत जी, पं. सत्यकेतु जी, पं. रघुवीर सिंह जी, पं. रामनाथ जी, आदरणीय बलभद्र कुमार हूजा जी, श्री सुभाष जी आदि सबको जाता है। आज वर्तमान में प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी के कुलपतित्व, डॉ. महावीर जी के कुलसचिवत्व

तथा प्रो. वेदप्रकाश जी के आचार्यत्व में विश्वविद्यालय तथा डॉ. दीनानाथ के सहायक मुख्याधिष्ठातृत्व में व अन्य अधिकारियों व कार्यकर्ताओं के सान्निध्य व सहयोग से विश्वविद्यालय व गुरुकुल विद्यालय आगे बढ़ रहा है।

इसके विश्वविद्यालय विभाग में जहाँ बड़ी कक्षाओं में आधुनिक व प्राचीन विषयों संस्कृत, हिन्दी, वेद, अंग्रेजी, दर्शन, गणित, मनोविज्ञान, इतिहास, कम्प्यूटर, योग, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, भौतिक विज्ञान, पर्यावरण, प्रबन्धन, इन्जीनियरिंग आदि में उच्चस्तरीय अध्ययन व अध्यापन हो रहा है वहीं इसके विद्यालय–विभाग में (जो इस गुरुकुल का मूल है, रीढ़ है) अध्ययन काल १२ वर्ष का है। विद्यालय में छात्रों का प्रवेश, प्रवेश–परीक्षा के आधार पर प्रथम से नवम कक्षा तक तथा मैट्रिक पास का प्रवेश सीधा ११ वीं कक्षा में होता है। यहाँ संस्कृत, व्याकरण, आर्यभाषा (हिन्दी), अंग्रेजी, गणित, धर्मशिक्षा, विज्ञान, सामाजिक, दर्शन, आलेख्य, इतिहास, कम्प्यूटर, शारीरिक शिक्षा, स्काउटिंग आदि सभी विषयों की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती है। १०वीं पास करने पर "विद्याधिकारी" तथा १२ वीं पास करने पर "विद्याविनोद" की डिग्री दी जाती है। जिनकी मान्यता सारे भारत में है। गुरुकुल का विद्याधिकारी छात्र किसी भी सरकारी कम्पीटीशन में भाग ले सकता है।

विद्यालय में छात्रों की प्रात: से लेकर देर रात सोने तक की दिनचर्या व्यवस्थित है। भारतवर्ष के सभी प्रदेशों से यहाँ छात्र पढ़ने आते है। यहाँ सादा जीवन उच्च विचार की शिक्षा दी जाती है। बच्चों में नैतिक गुणों का विकास किया जाता है। उन्हें भारतीय संस्कृति और सभ्यता से परिचित कराया जाता है। प्रात: व सायं संध्या–हवन अनिवार्य है। उन्हें राष्ट्रभक्ति व "मातृमान्–पितृमान्–आचार्यवान्" का पाठ पढ़ाया जाता है। गुरुकुल के छात्र बौद्धिक व शारीरिक प्रतियोगिताओं में उच्चस्तरीय प्रतिभा रखते है। छात्रों के रहने के लिए साफ–सुथरा सुन्दर दो मञ्जिला आश्रम (हॉस्टल) है। जिसमें सब सुविधाएं उपलब्ध हैं। व्यवस्थित भोजन–भण्डार है। भोजन शुद्ध व सात्त्विक तथा पौष्टिक दिया जाता है। पढ़ने के लिए आश्रम के सामने ही विद्यालय की भव्य बिल्डिंग है। खेलने के लिए खुले हरे–भरे साफ मैदान है। यहाँ का अनुशासन व अध्यापन आदि सब उच्चस्तरीय है। आज के नगरीय दूषित वातावरण से छात्रों को काफी दूर रखने की चेष्टा की जाती है। उन्हे संस्कारवान् बनाकर अच्छे नागरिक बनाना संस्था के अधिकारियों व कार्यकर्ताओं का लक्ष्य है। इसी भावना के साथ गुरुकुल विद्यालय अग्रसर है। यों तो हरिद्वार में अनेक मान्य शिक्षण–संस्थायें चल रही हैं किन्तु गुरुकुल कांगड़ी का अपना अलग ही एक भव्य स्थान है। यहाँ से विद्या–स्नात छात्र सम्पूर्ण भारत में अच्छे–अच्छे पदों पर कार्यरत है। वस्तुत: यह उत्तराञ्चल का गौरव है। इससे उत्तराञ्चल गौरवान्वित है।

प्रस्तुति–
महावीर "नीर" विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

संस्कृत साहित्य में अतिप्राकृत तत्त्व

विश्व के सभी प्राचीन साहित्यों में अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश मिलता है। साहित्यों में ही नहीं अपितु नाटकों, पुराणों, धर्म, दर्शन, साहित्यलोककथाओं, कला आदि मानव जीवन के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष प्राय: सभी अतिप्राकृत तत्त्वों से कहीं न कहीं प्रभावित हैं। आज का युग यद्यपि एक वैज्ञानिक युग है तथापि प्राचीनकाल में इन अतिप्राकृत तत्त्वों का बाहुल्य रहा है। जिसका प्रभाव आज भी मानव–जीवन पर दृष्टिगोचर होता है। किन्तु सृष्टि के विषय में जैसे–जैसे उसके बोध व अवधारणा में परिवर्तन होता गया वैसे–वैसे अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रति बदलाव आ चुका है। जिसके कारण आज साहित्य में अतिप्राकृत तत्त्वों का विनियोग लगभग समाप्त हो गया है या उनके स्वरूप व उद्देश्य में परिर्वतन हो गया है।

संस्कृत के अधिकांश नाटकों में अलौकिक व अतिमानवीय तत्त्वों की विविध योजना मिलती है। प्राचीन साहित्य आरम्भ से ही धार्मिक भावना एवं पौराणिक चेतना से अनुप्राणित रहा है। अधिकांशत: नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व इसी धार्मिक व पौराणिक मनोभूमि की देन है। अत: नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व लोककथाओं आदि से ग्रहण किए गए हैं। अत: यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ये अतिप्राकृत तत्त्व हैं क्या, इनका स्वरूप क्या है, इनका अर्थ क्या है ? संक्षेप में प्राकृतिक जगत् के तथ्यों व अनुभवों को अतिक्रान्त करने वाले सभी तत्त्व अतिप्राकृत कहे जा सकते हैं। आधुनिक विद्वानों ने धर्म, पुराकथा, जादू आदि की उत्पत्ति के प्रसंग में अतिप्राकृत तत्त्व सम्बन्धी विश्वासों के उद्भव तथा मानव जीवन में उनकी भूमिका के विषय में अनेक प्रकार के मत व्यक्त किए गए है। नृक्त्वशास्त्रियों के अनुसार ये विश्वास आदिम समाज में उत्पन्न हुए तथा सभ्यता की परवर्ती उन्नत अवस्थाओं में भी पुरावशेषों के रूप में बने रहे।[1] उनके विचार में ये विश्वास आदिम मानव की अतार्किक बुद्धि व अविकसित मनोवृत्ति की देन है।[2] इनमें सृष्टि की शक्तियों व उनके साथ अपने सम्बन्ध के विषय में उसकी प्रारम्भिक बौद्धिक व भावात्मक प्रतिक्रियाएं व्यक्त हुई है।[3] आदिम मनुष्य की सृष्टि एक विराट् व दुर्बोध रहस्य के रूप में प्रतीत हुई होगी और वास्तविक ज्ञान के अभाव में उसकी काल्पनिक व्याख्या के प्रयत्न में ये विश्वास उद्भूत हुए होगें। एक अन्य मत के अनुसार इन विश्वासों का जन्म एक अज्ञात व अपरिचित सृष्टि के घटना क्रमों के प्रति आदिम मानव में उत्पन्न भय, संभ्रम, आश्चर्य, विस्मय, श्रद्धा, हर्ष, असहायता, रहस्य आदि विविध भावों से हुआ।[4] आर.आर. मैरेट ने भी इस दृष्टि से

धर्म की उत्पत्ति का विवेचन किया है। उसका विचार है कि आदिम मनुष्य को प्राकृतिक व मानवीय जगत् में जहां भी कोई असामान्यता, वैलक्षण्य या आशातीतता का तत्त्व दृष्टिगोचर हुआ, वहां उसने किसी लोकोत्तर शक्ति का अनुभव किया होगा तथा उसके प्रति मानस में भय, विस्मय, आदर, प्रेम, प्रशंसा आदि अनेक भावों का एक समिश्र रूप संभ्रम जागृत हुआ होगा।[४]

मैलिनोत्स्की के अनुसार रोग या महामारी तथा अनावृष्टि, भूकम्प, झंझावात आदि आकस्मिक विपत्तियां मनुष्य के ज्ञान के परिचित व सामान्य ताने–बाने को छिन्न–भिन्न कर देती हैं एवं एक नई व्याख्या, सन्दर्भ की नई पद्धति व नए मार्ग–दर्शन की मांग करती है।[५] उनके अनुसार जादू और धर्म से सम्बन्धित अतिप्राकृत विश्वासों का उद्भव इसी स्थिति में निहित है। इन विपत्तियों में मृत्यु से बढ़कर कोई विपत्ति नहीं हो सकती, उनसे उत्पन्न नैराश्य व विफलता की खाई को पाटने के लिए मनुष्य की आत्मा की अमरता की कल्पना की होगी।[७] तब उसने अनुभव किया होगा कि यह दृश्य जगत् ही सब कुछ नहीं है, देह का अन्त ही अस्तित्व का अन्त नहीं है। इस दृश्य से परे एक अदृश्य जगत् भी है, जहाँ इस जीवन की समस्त अपूर्णताएं एक पूर्ण जीवन में पर्यवसित होती हैं।[८]

आज के वैज्ञानिक युग में भी ये विश्वास अविच्छिन्न रूप में बने हुए हैं, केवल अशिक्षितों में ही नहीं, शिक्षित व सभ्य माने जाने वाले लोगों में भी।[९] इसका कारण यह है कि जीवन की अप्रिय घटनाएं मनुष्य को इन तत्त्वों के प्रति विश्वास के लिए प्रेरित करती है। इसी कारण मानव अतिप्राकृत तत्त्वों में उसको व्याख्या ढूंढ़ता है। यथार्थ जीवन में भी मनुष्य इच्छाओं के पूर्ण न होनें पर अपनी काल्पनिक संसार में ही इन्हें पूर्ण करने का प्रयत्न करता है।

अतिप्राकृत का शाब्दिक अर्थ है– प्राकृत वस्तुओं को अतिक्रान्त करने वाला, उनसे उच्चतर, श्रेष्ठतर तथा विलक्षण। व्याकरण की दृष्टि से अतिप्राकृत शब्द विशेषण है तथा इसमें प्रादितपुरुष[१०] या बहुब्रीहि[११] समास हुआ है। अतिप्राकृत व प्राकृत दोनों सापेक्ष संज्ञाऐं हैं, अत: 'प्राकृत' व्युत्पत्ति व अर्थ के सन्दर्भ में ही 'मतिप्राकृत' का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है प्राकृत शब्द 'प्रकृति' में 'तत्त भव:' (४.३.५३) 'तत: आगत:' (४.२.५) आदि सूत्रों से विभिन्न अर्थों में 'अण' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। अत: इसका अर्थ है– 'प्रकृति से उत्पन्न', 'प्रकृति से प्राप्त', 'प्रकृति से सम्बन्ध' अथवा 'प्रकृति से सिद्ध' आदि इनमें मे 'निवृत्त' अर्थ में प्रकृति शब्द से 'ठञ्' प्रत्यय भी[१२] होता है जिससे 'प्राकृतिक' शब्द बनता है। इस प्रकार प्राकृत और प्राकृतिक शब्द समानार्थी से है। अत: हम इन व्युत्पत्तियों के आधार पर कह सकते है कि जिन तत्त्वों का सम्बन्ध प्रकृति से है तथा जिनकी उत्पत्ति, रचना या निष्पत्ति प्राकृतिक उपादानों से होती है, वे सब प्राकृत हैं तथा ऐसे सभी तत्त्व जिनकी निष्पत्ति प्रकृति से नहीं तथा जो प्राकृतिक तत्त्वों का अतिक्रमण करने वाले हैं, वे अतिप्राकृत तत्त्व कहे जा सकते है। इसके

अतिरिक्त जिन वस्तुओं, घटनाओं, स्थितियों आदि की प्राकृतिक कारणों से व्याख्या नहीं दी जा सकती तथा जो बातें हमारे तार्किक ज्ञान की सीमा में नहीं आती वे अतिप्राकृतक तत्त्व कहे जा सकते है। अतिप्राकृत तत्त्व प्राकृतिक जगत् में नही पाये जाते यही कारण है कि उनको जानने के लिए प्रकृति से भिन्न कुछ शक्तियों की कल्पना की जाती है। यही कारण है कि अतिप्राकृत तत्त्व स्वरूप से ही रहस्यमय, अतीन्द्रिय और तर्कातीत होते है। इस प्रकार अतिप्राकृत तत्त्वों की अवधारणा में अलौकिक, दिव्य अतिमानवीय एवं अद्भुत आदि शब्दों से अभिहित विभिन्न तत्त्व इसमें हैं। यहाँ पर अलौकिक का अर्थ है—अनुभव जगत से भिन्न, अतीत या विलक्षण। लोकोत्तर, लोकातिक्रान्त, लोकातिग आदि शब्द भी इसी अर्थ के वाचक हैं। दिव्य शब्द पार्थिव व मर्त्य जगत् से भिन्न किसी दैवीलोक से सम्बद्ध तत्त्वों की संज्ञा है। अतिमानवीय, अतिमानुषिक आदि शब्द मानवीय शक्ति व सम्भावना से अतीत तत्त्वों के द्योतक है। जो तत्त्व अपनी आकस्मिकता, विलक्षणता तथा अविश्वसनीयता द्वारा मानव मन को चकित कर देते है उन्हें अद्भुत कहते हैं।

संस्कृत साहित्य में विशेषत: नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व से तात्पर्य यह है कि जो साहित्य मानव व्यापारों में अतिप्राकृतिक शक्तियों के हस्तक्षेप या किसी भी अन्य प्रकार की भूमिका को स्वीकृति देता है उसमें मानव के स्वातंत्र्य व कर्तृत्व के लिए क्या स्थान होगा ? क्या वह दैविक शक्तियों के हाथों का खिलौना मात्र नहीं रह जाएगा ? इस विषय में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि हमारे नाटककारों की दृष्टि में मानवचरित्र व उनकी अन्तर्वृत्तियों का सौन्दर्यमय चित्रण करना ही उनका मुख्य लक्ष्य है। अन्तत: उनकी दृष्टि मानव पर ही केन्द्रित रही है। अत: संस्कृत साहित्य में अतिप्राकृतिक पात्र शील व स्वभाव, सौन्दर्य की दृष्टि से मनुष्य ही है। उनका केवल बाहरी रूप एवं व्यक्तित्व ही अतिमानवीय है। अन्य दृष्ट्यिों से वे मानव चरित्र की सम्भावनाओं का अतिक्रमण नहीं करते। अत: यहाँ पर कुछ साहित्यकारों की कृतियों में जो यत्र—तत्र अतिप्राकृत तत्त्वों का उल्लेख हुआ है उनमें नाटक के नायक नायिका व उनके सहायक पात्रों के अतिप्राकृत तत्त्वों का सुन्दर वर्णन है। भास ने अपने नाटकों के इतिवृत्त रामायण, महाभारत, पुराण व लोककथाओं से लिए हैं। उनके समय में अवतारवाद की धारणा पर्याप्त दृढ़ हो चुकी थी यह इसी से सिद्ध है कि उन्होंने कतिपय नाटकों[3] के मंगल—श्लोकों में नृसिंह, वामन व वराह आदि अवतारों या विष्णु का स्तवन किया है तथा 'अभिषेक' में राम को एवं 'बालचरितम्' व 'दूतवाक्यम्' में कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में अकिंत किया है।

लोककथाओं पर आधारित नाटक 'प्रतिमा' तथा 'अभिषेक' में अतिप्राकृत तत्त्वों की योजना काफी सीमित है तथापि कवि ने कुछ महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्त्व विशिष्ट नाटकीय उद्देश्यों से नियोजित किये हैं यथा—द्वितीय अंक के अन्त में राजा दशरथ को मृत्यु के समय दिलीप, रघु व अज़ ये तीन मृत पूर्वज दिखाई देते हैं। वह जान जाता है कि मेरा इन पितरों के साथ रहने

का समय आ गया है अत: वह राम, सीता व लक्ष्मण तीनों का स्मरण कर कहता है कि– मैं पितरों के साथ जा रहा हूँ। अनन्तर वह 'हे पितृगण! मैं आ रहा हूँ। यह कहता हुआ मूर्च्छित हो जाता है।'[१४] अत: इस प्रसंग को हम अतिप्राकृत ही कहेगें। दशरथ को मृत्यु के समय जो पूर्वज दिखाई देते हैं, प्रतिमागृह में उन्हीं की प्रतिमाओं में दशरथ की प्रतिमा सम्मिलित की गई है। इसके अतिरिक्त इस नाटक में रावण का सीता को लेकर आकाश में उत्पतन,[१५] वहां जटायु के साथ उसका युद्ध[१६] तथा पुष्पक विमान द्वारा यात्रा[१७] आदि अतिप्राकृत प्रसंग भी आये है। 'प्रतिमा' नाटक में भास का लक्ष्य मानव राम के चरित्र को अंकित करना हैं न कि ईश्वरीय अवतार राम का। किन्तु रावण के एक कथन में राम की ईश्वरता का संकेत दिया गया है।[१८] रामायण से कुछ भिन्न होने पर भी 'प्रतिमा' के रावण का व्यक्तित्व पौराणिक कल्पनाओं में ढला हुआ है। वह एक वंचक, मायावी, दम्भी और अत्याचारी व्यक्ति है। राक्षस होने के कारण वह रूप–परिर्वतन व माया प्रदर्शन तथा आकाश में उड़ने की शक्ति रखता है। वह दम्भपूर्वक कहता है कि मैं वहीं रावण हूँ जिसने युद्ध में देवों और दानवों को पराजित किया, इन्द्र को नष्ट किया, कुबेर को कँपा दिया, चन्द्रमा को खींच लिया तथा यमराज को कुचल दिया।[१९] उसी प्रकार अन्य सहायक पात्रों में राजा दशरथ जिसे प्रतिहारी ने प्रथम अंक में 'देवासुर संग्राम' में 'अप्रतिहतरथ' बताया है।[२०] राम के कथनानुसार 'दशरथ' दानवों के साथ युद्ध में देवों की सहायतार्थ अपनी सेना सहित स्वर्ग जाया करते थे।[२१] इसी प्रकार 'अभिषेक' नाटक में अतिप्राकृत तत्त्वों का सुन्दर निर्वाह हुआ है जो कि प्रथम अंक में बाली की मृत्यु के समय गंगा आदि नदियां, उर्वशी आदि अप्सराएं तथा सौ हंसों से चालित दिव्य विमान दिखाई देता है। वह वीरवाही विमान उसे लेने के लिए स्वर्ग से आया है। वह 'मैं आ रहा हूँ, कहता हुआ स्वर्ग चला जाता है।'[२२] यहाँ पर अप्सरा, विमान आदि का दर्शन एक अतिप्राकृत घटना है। इसी प्रकार पंचम अंक में रावण की नगरी लंका एक नारी के रूप में वर्णित हैं। जो कि रावण को छोड़कर राम के पास जा रही है, रावण के रोकनें पर भी वह नहीं रूकती।[२३] यह अतिप्राकृत का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं।

षष्ठ अंक में सीता अपने चरित्र की शुचिता सिद्ध करने के लिए अग्नि में प्रवेश कर निर्विकार रूप में बाहर निकल आती है।[२४] स्वयं अग्नि देवता उसे लेकर प्रकट होते हैं और कहते हैं कि सीता साक्षात् लक्ष्मी है जिसने मानुष शरीर ग्रहण कर आपको प्राप्त किया हैं।[२५] उक्त विवरण से पता चलता हैं कि नाटककार ने अधिकतर अतिप्राकृत तत्त्व रामायण से लिए हैं। इस नाटक के नायक राम हैं जो कि धीरोदात्त प्रकृति के हैं। भास ने राम के व्यक्तित्व को मानवीय और दैवी तत्त्वों से पूर्ण किया है। वूलनर और सरूप के अनुसार वे 'निरनुक्रोश योद्धा' अथवा 'निष्करूण दैवी' शक्ति मात्र है।[२६] राम की परमेश्वरता का लेखक ने अनेक पात्रों के मुँह से बार–बार स्मरण कराया है।[२७] नाटक के मंगल श्लोक में कवि ने अपने इष्ट देवता के रूप में इनकी स्तुति की है।[२८] वे नर रूप में नारायण हैं।[२९] अग्नि के कथनानुसार राम विष्णु के और सीता

लक्ष्मी की अवतार है।[30] राम की वीरता उनके व्यक्तित्व के अलौकिकत्व का महत्त्वपूर्ण अंग है। रावण जैसे राक्षस का वध उनके दैवी पराक्रम का प्रमाण हैं। सक्षेंप में राम का चरित्र अतिमानवीय धरातल पर अंकित हैं। इस नाटक के अन्य पात्रों में हनुमान एवं रावण का व्यक्तित्व भी दर्शनीय एवं अलौकिक है। हनुमान मारूत व अंजना के औरस पुत्र हैं।[31] उनकी शक्ति अलौकिक है, समुद्रलंघन, अशोकवाटिका का विध्वंस तथा रावण के सेनापतियों, भटों व पुत्र अक्ष का वध आदि कार्य उनकी लोकोत्तर शक्ति व शौर्य के परिचायक है।[32] दूसरी और लंका का अधिपति राक्षसों का स्वामी रावण है। जैसा कि प्रतिमा नाटक में उन्हें दम्भी, कपटी बताया था, वैसे अभिषेक नाटक में भी वे दम्भी एवं कामी है। उसकी शक्ति व शौर्य अलौकिक है। नाटक की नायिका 'सीता' को पतिवृता नारी के रूप में चित्रित किया है। अग्नि देवता के कथनानुसार सीता मूलत: लक्ष्मी है और राम भगवान विष्णु।[33] इस प्रकार नाटक के अन्त में सीता के व्यक्तित्व को अतिप्राकृत बना दिया गया है।

कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में भी अनेक अतिप्राकृत तत्त्वों का बाहुल्य रहा है। यहाँ पर भी शाप—प्रसंग कथा वस्तु का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसकी विषय वस्तु लौकिक और मानवीय है। नाटक की नायिका शकुन्तला स्वयं अधिक से अधिक एक अवर देवता है जो कि एक अप्सरा और मनुष्य से उत्पन्न हुई है। समस्त नाटक पौराणिक विश्वासों से ओत—प्रोत है। इस नाटक में प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व तत्कालीन पौराणिक विश्वासों पर ही आधारित है। इस नाटक का घटना चक्र पृथ्वी से स्वर्ग तक फैला हुआ है। नाटक के चतुर्थ अंक में शकुन्तला के प्रस्थान—कौतुक की तैयारियां हो रही हैं। उसकी सखियां उसे तपोंवन सुलभ मांगलिक प्रसाधनो से सजा रही हैं। तभी दो ऋषिकुमार—नारद और गौतम, शकुन्तला के लिए उत्तम वस्त्र और आभूषण लेकर उपस्थित होते हैं और कहते हैं कि किसी वृक्ष ने इन्दु—धवल मांगलिक क्षौम प्रकट किया, किसी ने पाद—रंजन के लिए लाक्षारस तो अन्य वृक्षों में से अदृश्य वन—देवताओं ने अपने मणिबन्धन पर्यन्त करतल उठाकर नवपल्लव सदृश आभरण प्रदान किए।[34] इस अतिप्राकृत घटना द्वारा कालिदास ने महर्षि कण्व के तपोंवन में मानव और प्रकृति के पूर्ण हृदय—संवाद का मार्मिक संकेत दिया है। इसी प्रकार पंचम अंक में शकुन्तला के प्रत्याख्यान के बाद एक अद्भुत प्रसंग में 'स्त्री संस्थान ज्योति:' द्वारा नाटककार ने अप्सरा के ज्योतिर्मय व्यक्तित्व की और संकेत किया है। मेनका का शरीर इतना अधिक ज्योति संवलित था कि पुरोहित को उसको सामान्य स्त्री आकार ही दिखाई दिया, विशिष्ट मुखाकृति नहीं।[35] इस युक्ति से कौतुहल व आश्चर्य की भावना को पराकाष्ठा तक पहुंचाया गया है। सभी और से तिरस्कृत वह अपनी पुत्री शकुन्तला को उठाकर मारीच के आश्रम में पहुंचा देती है। मारीच का आश्रम एक दिव्य भूमि है। यहीं पर ही सप्तम् अंक में बिछुड़े हुए प्रेमियों का पुनर्मिलन कराया है। इस पुनर्मिलन

में दुष्यन्त को असुरो से युद्ध करने के लिए स्वर्ग बुलाया जाता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण नाटक में प्रकृति द्वारा शकुन्तला को विभिन्न वस्तुएं प्रदान करना, अप्सराओं का स्वर्ग व पृथ्वी पर आवागमन, मारीच के आश्रम का दिव्य वर्णन, राजा दुष्यन्त को स्वर्ग बुलाना आदि घटनाएं अतिप्राकृत तत्त्वों से ओत–प्रोत है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व का प्रयोग रस में अद्‌भुदतता उत्पन्न करने में किया जाता रहा है। साथ ही विश्लेषण करने पर यह लगता है कि यह अतिप्राकृत तत्त्व नाटककार, कथावस्तु की दृष्टि से, कभी नायक की दृष्टि से या कभी रस की दृष्टि से उपयोग करते रहते हैं। अतः यह कहना कि अतिप्राकृत तत्त्व केवल एक कल्पनामात्र या विचार है ऐसा नहीं है क्योंकि नाटकों में किया गया इनका प्रयोग यह सिद्ध करता है कि वे मनुष्य जीवन की आवश्यकता है।

डॉ. अनीता
संस्कृत प्रवक्ता
आर्य कन्या महाविद्यालय
अम्बाला कैन्ट (हरियाणा)

सन्दर्भ संकेत

१. टायलर ने विकसित धर्म विश्वासों को आदिम मानव के 'जीववादी' विश्वास का परवर्ती विकास या अवशेष कहा है। टायलर की परिभाषा के अनुसार 'अवशेष' उन सांस्कृतिक वृत्तियों को कहते है जिनका मूल अर्थ व परियोजन लुप्त हो चुका है। लेकिन जो केवल अभ्यास की शक्ति से रखे जाते है। (देखिए– एनी मेरी वाल्टमालफिज्ट कृत 'रिलीजन एंड कल्चर' पृष्ठ–४९)

२. फ्रेजर के अनुसार मनुष्य मानसिक विकास की तीन क्रमिक अवस्थाओं में होकर गुजरा है–जादू, धर्म और विज्ञान। उनके विचार में जादू के युग में मनुष्य में तर्क बुद्धि का अभाव था, विचार शक्ति के उदय ने धर्म को जन्म दिया और धर्म ने विज्ञान को। लेवी ब्रह ने आदिम मानव की मनोवृत्ति को मात्रा की दृष्टि से ही नहीं, गुण की दृष्टि से भी सभ्य मनुष्य की मनोवृत्ति से सर्वथा भिन्न 'पूर्व तर्कात्मक' माना है। (देखिए–एनी मेरी वाल मालफिज्ट कृत 'रिलीजन एंड कल्चर' पृष्ठ– ५४, ६३)

३. आधुनिक नृतत्त्वशास्त्रियों में टायलर, स्पेन्सर लैंग, फ्रेजर आदि ने धर्म व जादू की उत्पत्ति के विषय में बौद्धिक उपपत्तियां प्रस्तुत की है, जबकि मैक्समूलर व मैरेट की उपपत्तियों में सृष्टि के प्रति आदि मानव की भाव प्रतिक्रियाओं पर बल दिया गया है।

४. देखिए– मैक्समूलर : फिजीकल रिलीजन पृ. ११९–१२०

५. देखिए– दी थ्रेशहोल्ड आवॅ् रिलीजन, पृ. १२

६. ब्रोनिसला मैलिनोत्स्की कृत 'फ्रीडम एंड सिविलाइजेशन', पृ. २०७

७. देखिए– एन्साईक्लोपीडिया आवॅ् सोशल साइन्सेज, खण्ड ३–४ में मैलिनोत्स्की का 'कल्चर'

शीर्षक निबन्ध, पृ. ६४१

८. देखिए– हॉकिंग : टाइप्स आवॅ् फिलॉसफी, पृ. ३१

९. देखिए–अर्नेष्ट हेकल : दि रिडल आवॅ् दि यूनिवर्स, पृ. २४७

१०. अष्टाध्यायी का सूत्र 'कुगति प्रादय:' (२.२.१८) व उस पर कात्यायन का वार्तिकअत्यादय: कान्तद्यर्थे द्वितीयया।

११. देखिए– कात्यायन का वार्तिक– प्रादिम्यो धातुजस्य वाच्यो वा–चोत्तरपदलोप:।

१२. 'तेन निर्वृत्तम्' अष्टाध्यायी, ५.१.७९

१३. अविमारक, प्रतिमा, अभिषेक, मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, कर्णभार, उरुभंग तथा बालचरित।

१४. भास नाटक चक्र, पृ. २७१ (ओरियन्टल बुक ऐजन्सी पूना, १९६२)

१५. योऽहमुत्पतितो वेगान्न दग्ध: सूर्यरश्मिभि:। प्रतिमा, ५.२०

१६. हन्तेतदन्तदिप्ते प्रवत्तं युद्धम्। भास नाटय चक्र, पृ. ३०२

१७. आ ज्ञातम्। सप्राप्तं पुष्पकं दिवि रावणस्य विमानम्।
कृत समयमिदं स्मृतमात्रमुपगच्छतीति। तत् सर्वेरारूह्यताम्।। वही, पृ. ३१७

१८. अहो बलमहो वीर्यमहो सत्त्वमहो जय:।
राम इत्यथ्तरैरल्पै: स्थाने व्याप्तमिदं जगत्।। वही, पृ. ५.१४

१९. भास नाटक चक्र, ६.१७

२०. आर्य, महाराजो देवासुरसंग्रामेष्वप्रतिहतरथो दशरथ आज्ञापयति। भास नाटक चक्र, पृ. २५०

२१. प्रतिमा, ४.१७

२२. बाली–(आचम्य) परित्यजन्तीव मां प्राणा:। इमा गंगाप्रभतयो महानद्य एता उर्वरयादयोऽप्सरसो मामभिगता:। एष सहस्रहंस प्रयुक्तो वीरवाही विमान: कालेन प्रेषितो मां नेतुभागत:। भवतु, अयमागच्छामि। (स्वयति:)

२३. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, ५.४, पृ. ३५६

२४. वही, ६.२५

२५. वही, ६.२८

२६. त्रिवेन्द्रमप्लेज, भाग–२, पृ. १४४

२७. अभिज्ञानशाकुन्तलम, ४.१३,१४, ६.३०,३१

२८. वही, १.१

२९. नारायणस्य नररूपमुपाश्रितस्य ...... वही, ४.१३

३०. इमां भगवतीं लक्ष्मीं जानीहि जनकात्मजाम्
स भवन्तमनुप्राप्ता मानुषीं तनुमास्थिता।। वही, ४.१४

३१. अभिज्ञानशाकुन्तलम, ३.१५

३२. भास नाटक चक्र, पृ. ३३९

३३. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६.२७–२८

३४. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४.४

३५. पुरोहित :–'स्त्रीसस्थानं चाप्सरस्तीर्थमाराद् ।
उत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ।।' वही, ५.३०

वैदिक नारी और मानवीय आदर्श

वैदिक मान्यताओं के अनुसार नारी के बिना यह सम्पूर्ण विश्व सार–शून्य है। सृष्टि विस्तार की दृष्टि से भी निःसन्देह पुरुष की अपेक्षा नारी की महत्ता अधिक है। वह पुरुष जननी है। वह पुरुष की सहयोगिनी, सहभागिनी, सहधर्मिणी और अर्धांगिनी है। नारी की इस महत्ता तथा उपयोगिता के कारण ही वैदिक साहित्य में नारी की कामना और समुचित पालना प्रत्येक गृहस्थ से किए जाने का विधान है। इसी कारण ऐतरेय उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा है कि– 'नारी हमारी पालना करती है, अतः उसकी पालना करना हमारा कर्त्तव्य है।'[१] ऋग्वेद में श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, सेवा और समानता की प्रतीक नारी को पवित्र, निष्कलंक, आचार के प्रकाश से सुशोभित, निष्पाप, उत्तम यश–युक्त, सकर्मण्य और सत्य व्यवहार करने वाली बतलाकर प्रशंसित किया गया है।[२] वैदिक साहित्य नारी में उक्त गुणों का निर्देश करके उसमें इन गुणों का विशेष रूप से विकास चाहता है। इन्हीं गुणों के द्वारा वह समाज का उत्थान करके संसार को स्वर्ग बनाती है।

"कन्या" शब्द नारीत्व का प्रारम्भिक रूप है। आचार्य यास्क ने निरुक्त में "कन्या कमनीया भवति" कहकर उसे सबके द्वारा चाही जाने वाली कहा है। माँ, भगिनी, पुत्री, पत्नी आदि अपने विविध रूपों में नारी मानवीय आदर्शों का प्रतिपादन करती है। "नारी तुम केवल श्रद्धा हो"[३] और "एक नहीं दो–दो मात्राएं नर से बढ़कर नारी"[४] जैसी प्रशंसात्मक उक्तियों के द्वारा आधुनिक साहित्यकारों ने भी नारी के गुणों को खूब सराहा है। मनु ने भी "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"[५] लिख नारी के सम्मानीय पद की ओर ही इशारा किया है। नारी की सर्वोत्तम शक्ति 'मातृशक्ति' को अथर्ववेद में सत्याचरण की अर्थात् धर्म की प्रतीक कहा है।[६] वह जल के तेज (अर्थात् शीतलता व शान्ति) से युक्त है।[७] वह 'शम्या' अर्थात् शान्तिदायिनी है।[८] 'माँ' अथवा 'माता' एक ऐसा शब्द है जिससे समाज की रचना का प्रारूप प्रभावित होता है। जीजाबाई, मदालसा, हुलसी, सुगहा, पुतलीबाई, स्वरूपा रानी जैसी अनगिनत नारियों ने संसार को ऐसे नर–रत्न दिए जिन्होंने अपने अपने आदर्शों से माँ का जीवन ही धन्य कर दिया। इसीलिए उपनिषद्कार 'मातृदेवो भव' कहकर माता को देवता की उपाधि से सुशोभित करते हैं। माँ के आँचल में असह्य पीड़ा के सहने की शक्ति होती है। तप और त्याग का दूसरा नाम नारी का माँ रूप होता है।

नारी जाति को किन किन महत्त्वपूर्ण गुणों व मानवीय आदर्शों से विभूषित होना चाहिए इसका वर्णन वेद में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ–यहाँ पर नारी को–

१. पुण्यगन्धा = उत्तम यश वाली

२. वशिनी = सबको वश में करने वाली

३. सुसंकाशा = ज्ञान से भली प्रकार प्रकाशित

४. घृतवती = तेज स्वरूपा
५. ध्रुवा = दृढ़ संकल्प वाली
६. वाजिनीवती = कर्मठ स्त्री
७. सहस्रस्तुका = हजारों लोग जिसकी स्तुति करें।
८. सुशेवा = कल्याणप्रदा
९. सुषूमा = अच्छे गुणों की ओर प्रेरित करने वाली
१०. अश्वसुनृता = प्रिय शब्द करने वाली
११. सहीयसी = अत्यन्त बल वाली
१२. सत्यश्रवसी = अच्छे यश वाली[९]

इत्यादि विशेषणों से विशेषित कर मानवीय आदर्शों को ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है। यदि व्यक्ति समाज में रहता हुआ उक्त गुणों को धारण करता है तो वह समाज के ऋण से उऋण हो सकता है। नारी के समान नर को भी इन गुणों को अपनाना चाहिए।

इन प्रकीर्ण उद्धरणों के अतिरिक्त अथर्ववेद में सप्तम काण्ड के ४६, ४७, ४८ तथा ४९ वें सूक्त में एक ही स्थान पर नारी में मानवीय आदर्शों का जो आधान किया गया है वह अनायास ही पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। इन चारों सूक्तों में क्रमशः तीन, दो, दो और दो मन्त्र हैं। इन सात मन्त्रों के देवता (प्रतिपाद्य विषय) सिनीवाली (४६ वां सूक्त), कुहु (४७वां सूक्त), राका (४८ वां सूक्त) और देवपत्नी (४९ वां सूक्त) (यहाँ देवपत्नी शब्द को भी स्पष्ट करना अभीष्ट है—अचेतन देवों के व्यवहार पक्ष में किसी भी पदार्थ की दिव्य शक्ति को स्त्रीलिंग में 'देवपत्नी' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। चेतन देवों के व्यवहार में देवपत्नी शब्द का अर्थ होगा देव=विद्वान् या राजा की पत्नी। अब क्रम प्राप्त सिनीवाली—कुहु—राका—देवपत्नी प्रभृति के अर्थों पर प्रकाश डाला जाएगा।

सिनीवाली— सिनीवाली का अर्थ है बहुत अन्न वाली, अन्नपूर्णा नारी अथवा स्नेहशील नारी। ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद[१०] में सिनीवाली का अर्थ 'सिनी प्रेमबद्धा बलकारिणी च' किया है। निरुक्त में भी 'सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि, वालं पर्व वृणोतेः तस्मिन् अन्नवती।'[११] लिखकर बताया गया है कि सिन अन्न को कहते हैं। जो अन्न वाली है वही सिनीवाली हुई। शतपथ ब्राह्मण में भी 'योषा वै सिनीवाली'[१२] कहा गया है। अर्थात् स्त्री की संज्ञा सिनीवाली क्योंकि वह होती ही अन्नपूर्णा है। जिस घर में अथवा समाज में अन्न, जल, आसन और मीठे वचनों से स्वागत करने वाली नारी रहती है वह निश्चित रूप से मानवीय आदर्शों की खान है। अन्नपूर्णा नारी खाना खिलाते समय खुद भूखी रह जाऐगी पर अतिथि सत्कार पर आँच नहीं आने देगी क्योंकि अतिथि तो भगवान का रूप होता है।

कुहु— कुहु का अर्थ है आकर्षक स्वभाव वाली और आकर्षणशील स्त्री। व्यक्ति के व्यक्तित्व में उसका स्वभाव, व्यवहार कुशलता, बुद्धिमता और सद्गुण विशेष स्थान रखते हैं। जहाँ नारी इन गुणों से सभी के प्रति अपने दायित्व का निर्वहण करती है वहाँ गर्व और गौरव

को उद्दीप्त करने वाली यह संज्ञा नारी के लिए चुनौती और कसौटी दोनों ही हैं। इस सूक्त में नारी को 'शतदायमुक्थ्यम्' कहा गया है। अर्थात् नारी ऐश्वर्य सम्पन्न सन्तान पैदा करे तथा स्वयं मितव्ययी बनकर घर में अर्थ—व्यवस्था को ठीक रखे।

राका— राका पौर्णमासी को कहते हैं। निरुक्त में आया है 'राका रातेर्दानकर्मणः'[१३] अर्थात् दान अर्थ वाली रा धातु से राका शब्द सिद्ध हुआ। पौर्णमासी का चाँद समस्त संसार को अमृत रूपी चाँदनी से सुख का दान करता है अतः वह राका है। इसी प्रकार नारी भी, अपने अनेक रूपों में अपने नैसर्गिक स्वभाव से घर तथा समाज में सुख, सुसन्तान एवं हवि आदि प्रदान करती है। अथर्ववेद के १९ वें काण्ड में उसे गौ की भाँति कहा गया है जो दया, सरलता, ममता और प्रेम की खान है। वैसे यह भी एक तथ्य है कि निघण्टु कोष में गौ, मही, अदिति, इडा आदि पृथ्वी वाचक नाम गौ वाचक नामों में भी पढ़े हैं और ये सभी नाम विभिन्न मन्त्रों में नारी वाचक भी आए हैं। महर्षि दयानन्द ने —'इडे, रन्ते हव्ये ..... या सुकृतं ब्रूतात्।'[१४] मन्त्रगत सभी गौ वाचक नामों को नारी परक अर्थों में लगाया है। स्पष्ट है जैसे गौ अपने अमृत तुल्य पयः प्रदान के कारण अघन्या = न हन्तुं योग्या—तो नारी भी सृष्टि का सुकोमल तत्त्व एवं राष्ट्र निर्माण में परम उपयोगी होने के कारण अघन्या, इडा (प्रशंसनीय गुणयुक्त), ज्योता (श्रेष्ठ शील से प्रकाशमान), चन्द्रा (अत्यन्त आनन्द देने वाली) इत्यादि है।

देवपत्नी— अथर्ववेद के सातवें काण्ड के ४९ वें सूक्त का देवता 'देवपत्नी' है। देवपत्नी शब्द का अर्थ है—"देवानां विदुषां राज्ञां पत्नी" अर्थात् विद्वान् या राजा की पत्नी। इस में चार मन्त्र हैं, जिनमें से प्रथम मन्त्र में नारी स्नेहशील गृहदेवी, दिव्य गुणों की प्रकाशिका या देवों की भगिनि कहा गया है। नारी से दो अपेक्षाएँ की गई हैं। प्रथम तो वह "जुषस्व हव्यमाहुतम्" अर्थात् गृह में श्रेष्ठ धार्मिक यज्ञमय सुन्दर वातावरण को बनाए रखे, दूसरे वह "प्रजां दिदिड्ढि नः" = सुसन्तान का निर्माण करे। अगले मन्त्र में भी कुछ ऐसी ही अपेक्षाएं करते हुए कहा गया है कि नारी गृहकार्यों व सुसन्तान के निर्माण के साथ "पतिम् राधसे चोदयस्व" अर्थात् नारी अपने पति के जीविकोपार्जन में भी सहायक बने। सचमुच ही अर्थाभाव सन्तानों की शिक्षा, शारीरिक दृढ़ता एवं नैतिक उत्थान कुछ भी सम्भव नहीं है। इस दरिद्रता रूपी अभिशाप को नारियां अपने पतियों को उत्तम व्यवहारों से प्रसन्न रखती हुई संयमित जीवन एवं पुरुषार्थी बनने की प्रेरणा देकर दूर कर सकती हैं।

इसी सूक्त में देवपत्नी के लिए **इन्द्राणी** (ऐश्वर्यशील पुरुष की पत्नी), **आग्नायी** (अग्नि सदृश तेजस्वी पुरुष की पत्नी), **रोदसी** (न्यायोचित कार्य करने वाले पुरुष की पत्नी), **वरुणानी** (श्रेष्ठ पुरुष की पत्नी) आदि शब्द आए हैं। अतः स्पष्ट है कि इन्द्राणी आदि कहलाने वाली श्रेष्ठ और वीर पुरुषों की पत्नियां भी अपने पतियों के सदृश परोपकारप्रिया, तेजस्विनी, न्याय सभा की अध्यक्षता तथा युद्धक्षेत्र में भी सहायिका एवं परामर्शदात्री होवें— ऐसे मानवीय आदर्शों की अपेक्षा वेद में देवपत्नियों = विद्वानों एवं राजाओं की पत्नियों से की गई है।

सार रूप में यही कहा जा सकता है कि नारी घर को स्वर्ग बनाकर परोक्ष रूप से सम्पूर्ण समाज, राष्ट्र अथवा विश्व को स्वर्ग बनाने में समर्थ सिद्ध हो सकती है। मानव—जाति का उत्कर्ष नारी जाति की समुचित उन्नति में निहित है। नारी के व्यक्तित्व में, वेद सम्मत, जिन मानवीय आदर्शों का आधान किया गया है उनके सम्यक् परिपालन से ही नारी की उन्नति का प्रत्येक मार्ग प्रशस्त हो सकता है और मानव—समाज का सुख भी इसी में होगा।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

डॉ. (श्रीमती) वसुन्धरा रिहानी
दयानन्द वैदिक शोधपीठ,
पंजाब वि.वि. चण्डीगढ़—१६००१४

सन्दर्भ संकेत

१. सा भावयित्री भावमितव्या भवति। ऐतरेय उपनिषद् २.३
२. शुचिभ्राजा उषसो नवेदा यशस्वतीरपस्युवो न सत्याः। ऋग्वेद १.७९.१
३. श्री जयशंकर प्रसाद, कामायनी से
४. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त।
५. मनुस्मृति ३.५६
६. सत्येनोत्तभिता भूमिः —अथर्ववेद १४.१.१
७. अथर्ववेद १४.१.३९
८. वही १४.२.१६
९. (i) ऋग्वेद ७.५५.८
(ii) वही १०.८४.२६
(iii) वही १.१२३.११
(iv) यजुर्वेद ४.२
(v) वही १२.५३
(vi) वही ३४.३३
(vii) अथर्ववेद ७.४६.३
(viii) वही १४.२.२६
(ix) वही ७.४६.२
(x) सामवेद पूर्वार्चिक १७४१
(xi) वही १७४१
(xii) वही १७४१
१०. यजुर्वेद ३४.१०
११. निरुक्त ११.३१
१२. शतपथ ब्राह्मण ६.५.१.१०
१३. निरुक्त ११.३०
१४. यजुर्वेद ८.४३

प्राचीन भारतीय गणतन्त्रात्मक शासन-पद्धति

प्रारम्भ में अधिकांश इतिहासकारो की यह धारणा थी कि प्राचीन भारत में केवल राजतन्त्रात्मक शासन–पद्धति ही प्रचलित थी और गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति का कोई अस्तित्व नहीं था। परन्तु कालान्तर में नई खोजो ने यह सिद्ध कर दिया कि प्राचीन भारत में राजतन्त्रात्मक शासन–पद्धति के साथ–साथ गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति भी प्रचलित थी और काफी लम्बे समय तक यह पद्धति अपने अस्तित्व में बनी रही। सर्वप्रथम रिज् डेविड्स[१] ने बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारत में गणराज्यों के अस्तित्व का पता लगाया। इसके पश्चात् काशी प्रसाद जायसवाल[२], डी.आर. भण्डारकर[३] तथा रमेशचन्द्र मजुमदार ने भी प्राचीन भारत में गणतन्त्रात्मक शासन–प्रणाली के अस्तित्व को स्वीकार किया। अवदानशतक के अनुसार मध्यदेश के कुछ व्यापारी जब दक्षिण गये तो वहां के लोगों ने उनसे उत्तर भारत की शासन–व्यवस्था के बारे में पूछा तो उन्होंने बताया कि 'कुछ देश ऐसे है जो गणों के अधीन है और कुछ देश ऐसे है जहाँ राजा का राज्य है।'[४] जैन ग्रन्थ आचारांगसूत्र के अनुसार 'जैन भिक्षु ऐसे देश में न जाये जहाँ राजा न हो या युवराज का राज्य हो या जहाँ आपस में लड़ने वाले दो राजाओं का राज्य हो या जहाँ गणराज्य हो।'[५] अलतेकर के अनुसार इन उद्धरणो से यह स्पष्ट होता है कि गणों से तात्पर्य ऐसे राज्यों से था, जहाँ अधिकार एक आदमी के हाथ में न होकर गण अथवा अनेक व्यक्तियों के हाथ में होता था। ठीक इसी अर्थ में संघ शब्द का भी प्रयोग किया जाता था।[६]

बौद्ध ग्रन्थों में अनेक ऐसे राज्यों का उल्लेख मिलता है जहाँ गणतन्त्रात्मक शासन–पद्धति से शासन होता था। ये राज्य अधिकांशत हिमालय की तराई तथा उत्तरी बिहार में स्थित थे। इनमें प्रमुख थे– (१) कपिलवस्तु के शाक्य, (२) अल्लकप्प के बुलि, (३) रामग्राम के कोलिये, (४) केसपुत्त के कालाम, (५) सुसुमारगिरि के भग्ग, (६) वैशाली के लिच्छवि, (७) मिथिला के विदेह, (८) पिप्पलीवन के मोरिय, (९) पावा के मल्ल, (१०) कुशीनगर के मल्ल

इसके अतिरिक्त पाणिनि अष्टाध्यायी, महाभारत तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी अनेक गणतन्त्र राज्यों का उल्लेख मिलता है। देश के विभिन्न स्थानों से प्राप्त सिक्के भी चौथी शताब्दी ई. तक गणतन्त्रों के अस्तित्व को प्रमाणित करते है। पाणिनि के अनुसार उस समय दो प्रकार के गणराज्य थे–

(क) राजशब्दोपजीविन– इससे तात्पर्य उन *गणराज्यों से था जिनके अध्यक्ष राजा कहलाते* थे और उनका निर्वाचन करने वाले भी स्वयं को राजा कहते थे। सम्भवत: इसलिए कि वे राजा का निर्वाचन करते थे और स्वयं भी उस पद के लिए निर्वाचित हो सकते थे। लिच्छवि तथा मल्ल इस श्रेणी में आते थे। अर्थशास्त्र तथा ललितविस्तार में स्पष्टत: लिच्छवि राज्य को 'राजशब्दोपजीवी संघ' कहा गया है।[६अ]

(ख) वार्ताशस्त्रोपजीविन– इससे तात्पर्य उन गणराज्यों से था जिनके नागरिक कृषि, पशुपालन, वाणिज्य और सैनिक निपुणता को अपना आधार मानते थे। इन राज्यों में सैनिक कार्य इतने महत्त्वपूर्ण माने जाते थे कि गण के प्रत्येक नागरिक के लिए सैनिक कार्यों में निपुण होना आवश्यक था। यौधेय इसी श्रेणी में आते थे। पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में यौधयों को 'आयुधजीवी संघ' कहा है।

लेकिन इन गणराज्यों की शासन–पद्धति के स्वरूप का स्पष्ट और विस्तृत विवरण हमे किसी साहित्य में नहीं मिलता। परन्तु यत्र–तत्र बिखरी हुई जानकारी के आधार पर तथा बौद्ध धार्मिक संघों के नियमों और कार्यप्रणालियों के आधार पर हम इनके सामान्य स्वरूप का निर्धारण कर सकते है। चूंकि महात्मा बुद्ध का जन्म गणराज्यों में हुआ था और वे इसकी शासन पद्धति से भलीभांति परिचित थे, अत: सम्भव है कि उन्होंने अपने धार्मिक संघों के लिए उन्हीं नियमों को अपनाया हो जो गणराज्यों द्वारा तत्कालीन समय में व्यवहार में लाये जाते रहे हो। अत: हम यहाँ बौद्ध धार्मिक संघों की कार्यप्रणालियों के आधार पर ही गणतंत्रों की शासन–पद्धति का उल्लेख करेंगे।

गणराज्यों में शासन किसी एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित न होकर विभिन्न व्यक्तियों के हाथ में होता था। गणराज्यों की सर्वोच्च परिषद् एक केन्द्रीय समिति होती थी जिसका अध्यक्ष 'विनयधार' कहलाता था। समिति का अधिवेशन संस्थागार (सभा–भवन) में होता था। इसके अधिकार विस्तृत होते थे। प्रशासन की सारी शक्तियां इसी में केन्द्रित होती थी। यह संस्था संघ की विभिन्न समस्याओं पर विचार–विमर्श करती थी। राज्य की नीति–निर्धारित करती थी। विदेश नीति का निर्धारण करती थी। सन्धि–विग्रह का निर्णय करती थी। विधि–विधान तथा नियम बनाती थी। राजदूतों की नियुक्ति करती थी। युद्ध तथा राजस्व–व्यवस्था का निर्धारण करती थी।[७]

इस समिति के सदस्यों की संख्या काफी अधिक होती थी। एकपण्ण जातक तथा चुल्लकलिंग जातक के अनुसार लिच्छवियों की केन्द्रीय समिति में ७७०७ राजा तथा इतने ही उपराजा, सेनापति तथा भाण्डागारिक (कोषाध्यक्ष) थे।[८] एक अन्य स्थान पर शाक्यों के संस्थागार के सदस्यों की संख्या ५०० बताई गई है।[९] इसी प्रकार क्षूद्रकों ने अपने १५० प्रमुख नेताओं को सिकन्दर से सन्धि वार्ता के लिए भेजा था। इससे पता चलता है कि उनकी समिति के सदस्यों

की संख्या काफी अधिक रहीं होगी। परन्तु कुछ विद्वान राजाओं की ७७०७ संख्या को अत्यधिक और असम्भव मानते है। परन्तु यह मत उचित नहीं है, क्योंकि प्राचीन कुलीन गणतन्त्रात्मक गणों में समिति के सदस्यों की संख्या प्राय: बहुत अधिक हुआ करती थी। यूनानी लेखको ने भी चौथी शताब्दी ई.पू. के एक भारतीय गणराज्य की शासक सभा की संख्या ५,००० बतायी है।[१०] यूनान के एथेन्स की साधारण सभा के सदस्यों की संख्या तो ४२,००० थी। जिसमें प्रत्येक को उसकी बैठक में शामिल होने का अधिकार था। अत: इसे देखते हुए यह संख्या असम्भव नहीं मानी जा सकती। इस आधार पर अलतेकर का मत है कि सम्भवत: एक गणराज्य कई प्रशासनिक इकाईयों में बंटा रहता था तथा प्रत्येक इकाई का शासनाध्यक्ष एक राजा होता था जिसके अधीन उपराजा, सेनापति तथा भाण्डागारिक होते थे। ये सदस्य उच्च वर्ग के लोग होते थे जो अपने स्थानीय शासन में स्वतन्त्र होते थे। शासक वर्ग के अतिरिक्त साधारण जनता में कृषक, भृत्य, दास तथा कारीगर आदि सम्मिलित होते थे।[११]

संस्थागार में सदस्यों कों बैठाने की व्यवस्था 'आसनप्रज्ञापक' नामक अधिकारी करता था। चुल्लवग्ग में वैशाली की महासभा में 'अजित' नामक भिक्षु को आसनप्रज्ञापक के पद पर नियुक्त करने का उल्लेख मिलता है।[१२] समिति के निर्णय की वैधता 'गणपूर्ति' (कोरम पूरा होने) पर निर्भर करती थी। लेकिन यदि कोई कार्य कोरम पूरा किये बिना किया जाता था तो उसे वैध नही समझा जाता था। गणपूर्ति के लिए जो व्यक्ति आवश्यक कार्यवाही करता था उसे 'गणपूरक' कहते थे।[१३] इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए जायसवाल ने लिखा है कि गणपूरक से अभिप्राय उस व्यक्ति से था जो कार्यवाही प्रारम्भ होने से पूर्व यह देखता था कि गण के नियमानुसार संख्या की पूर्ति हो गई है अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में समिति के सदस्यों में से एक सदस्य पर इसकी जिम्मेदारी होती थी कि वह कम से कम उतने सदस्यों को अवश्य उपस्थित करने का प्रयत्न करे, जितने सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी। समिति में जिस विषय पर विचार होता था उसे पहले प्रस्ताव के रूप में पेश किया जाता था जिसकी पूर्व सूचना सभी को दी जाती थी। सूचना को 'ज्ञप्ति' कहा जाता था। प्रस्ताव को 'प्रतिज्ञा' कहा जाता था। जो विषय विचार के लिए प्रस्तुत किया जाता था उसी पर प्रत्येक सदस्य को बोलना होता था। अन्य विषय पर बोलने की आज्ञा नहीं मिलती थी। इसे 'अनग्रविरोध' कहते थे। जो प्रस्ताव के पक्ष में होते थे वे चुप रहते थे, जो विरोध करते थे वे अपना विरोध प्रकट करते थे। यदि प्रस्ताव उपस्थित होने पर समिति के सदस्य चुप रहते थे तो उसे तीन बार दोहराया जाता था। तीनो बार समिति के सदस्यों के चुप रहने पर प्रस्ताव को स्वीकृत समझ लिया जाता था। लेकिन विरोध होने पर निर्णय मतदान के आधार पर लिया जाता था। मतदान के लिए 'छन्द' शब्द का प्रयोग किया जाता था। मतदान में शलाकाएं प्रयुक्त की जाती थी, जो लकड़ी की बनी होती थी। प्रत्येक सदस्य को अनेक रंगों की शलाकाएं दी जाती थी। विशेष प्रकार के मत के लिए विशेष रंग की शलाका होती थी। मतदान अधिकारी

'शलाकाग्राहक' कहलाता था। शलाकाग्राहक के लिए निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक माना जाता था–

१. उसे नियमों का ज्ञान होना चाहिए।
२. उसे पक्षपातरहित होना चाहिए।
३. उसके मन में किसी प्रकार का द्वेष नहीं होना चाहिए।
४. उसे किसी का भय न हो।
५. जिसकी सम्मत्ति पहले से बनी हुई न हो।

मतदान साधारणत: तीन प्रकार से होता था–

(१) गुह्यक– यह गुप्त मतदान होता था।
(२) सकर्णजपक– अपना मत, मत संग्रह करने वाले अधिकारी के कान में कहना।
(३) विवर्तक– प्रकट रूप से मतदान करना।[१४]

अनुपस्थित सदस्यों को भी अपना मत देने की व्यवस्था होती थी और वे अपना निर्णय लिखित रूप से भेज सकते थे। साधारणत: केन्द्रीय समिति के सदस्य संस्थागार में बहुमत के आधार पर निर्णय लेते थे। बौद्ध साहित्य में इसके अनेक उदाहरण मिलते है। उदाहरणार्थ जब रोहिणी नदी के जल–वितरण के सम्बन्ध में कोलियों और शाक्यों के कृषकों के बीच विवाद हुआ तो उन्होंने अपने अधिकारियों और राजाओं को सूचित किया। राजाओं ने इस विषय पर पर्याप्त वाद–विवाद के पश्चात् युद्ध करने का निर्णय लिया। इसी प्रकार कौशल नरेश विडूडम द्वारा शाक्य गणराज्य पर आक्रमण किये जाने तथा उसकी राजधानी का घेरा डालकर उनसे आत्म–समर्पण के लिए कहे जाने पर शाक्यों ने अपने संस्थागार में आत्म–समर्पण अथवा युद्ध करने के ऊपर विचार–विमर्श किया। अन्त में बहुमत के आधार पर आत्मसमर्पण का निर्णय लिया गया।[१५] लिच्छवि गणराज्य के सेनापति के चुनाव का भी विवरण मिलता है। जिसके अनुसार सेनापति खण्ड की मृत्यु के पश्चात् सेनापति सिंह की नियुक्ति संस्थागार के सदस्यों द्वारा निर्वाचन के आधार पर की गई थी। लेकिन ऐसे विवादग्रस्त प्रश्न जिस पर निर्णय सम्भव नहीं हो पाता था, एक उप–समिति को सौंप दिये जाते थे। जिसे 'उद्वाहिक' कहा जाता था। यह उप–समिति किसी अन्य स्थान पर बैठकर विचार–विमर्श करती थी जिसका निर्णय सबको मान्य होता था। अत: यह एक प्रकार की पंचसमिति होती थी। संघ के अधिवेशनों की प्राय: सभी बाते लिपिबद्ध कर ली जाती थी। इसके लिए लेखक हुआ करते थे, जोकि प्रस्तावों तथा भाषणों को लिखा करते थे। महागोविन्द सुत्तान्त में इस प्रकार के चार लेखकों का उल्लेख मिलता है जोकि महाराज की उपाधि से विभूषित थे और वे चारों लिखने वाले महाराज अन्त तक बराबर अपने स्थान पर बैठे रहे और वहाँ से नहीं उठे। लेकिन संघ के वाद–विवाद के बीच में यदि कोई वक्ता भावाशेष में आकर परस्पर विरोधी बातों का उच्चारण करता था, पहले कही गई बातों को दोहराता

था तथा भद्दी बातों को बोलता था तो वह दोषी समझा जाता था और इसके लिए वही उत्तरदायी होता था।

अलतेकर के अनुसार संस्थागार में केवल राजनीतिक विषयों पर ही विचार–विमर्श नहीं होता था अपितु सामाजिक तथा धार्मिक विषयों पर भी विचार–विमर्श होता था। उदाहरणार्थ कुशीनगर के मल्लों ने अपने संस्थागार में ही एकत्र होकर भगवान बुद्ध के अन्त्येष्टि संस्कार के विषय पर विचार–विमर्श किया था। इन्हीं मल्लों और लिच्छवियों ने भगवान बुद्ध से अपने नवनिर्मित संस्थागारों में उपदेश देकर उसके उद्घाटन करने की प्रार्थना अनेक समय पर की थी।[१६]

दैनिक शासन–व्यवस्था के संचालन के लिए एक मंत्रिपरिषद होती थी जिसका प्रधान गणाध्यक्ष होता था। मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या गणराज्यों के आकार पर निर्भर करती थी। साधारणत: सदस्यों की संख्या कम होती थी। लिच्छवियों के '९' तथा मल्लो के '४' मंत्रिपरिषद् सदस्य थे। इसी प्रकार लिच्छवि–विदेह राज्य संघ की मंत्रिपरिषद में '१८' सदस्य थे। पंतजलि महाभाष्य से भी मंत्रियों की संख्या के बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। पंतजलि ने 'पंचक', 'दशक' तथा 'विशक' इत्यादि शब्दों से संघों का वर्णन किया है। सम्भवत: पंचक से तात्पर्य उस गण से था जिसके मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या पांच थी। इसी अर्थ में दशक और विशक शब्द भी प्रयुक्त हुए है। इसी प्रकार महावग्ग में चार, पांच, दस एवं बीस सदस्यों के 'वग्गो' के कारण संघो का विभाजन किया है।[१७] ये वग्ग मंत्रिमण्डल ही होंगे, जिसके सदस्यों की संख्या कभी चार, पांच तथा कभी दस या बीस रहती थी। इस आधार पर अलतेकर का मत है कि गणतंत्रों में मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या प्राय: चार से बीस तक रहती थी।[१८] ये सदस्य कुलीन तथा श्रेष्ठ कुलो से लिये जाते थे। प्रशासन के विभाग इन मंत्रियों में विभाजित किये जाते थे। राजतंत्रों की भांति गणराज्यों में भी सम्भवत: ग्राम पंचायते होती थी जो कृषि, व्यापार एवं उद्योग आदि के विकास के लिए कार्य करती थी।

गणराज्यों की न्याय–व्यवस्था भी उच्च कोटि की थी। पालिग्रन्थों में सर्वत्र इसकी प्रशंसा की गई है। बुद्धघोष की सुमंगलविलासिनी टीका से पता चलता है कि वज्जिसंघ में आठ न्यायालय थे और जब तक किसी व्यक्ति को आठो न्यायालयों द्वारा दोषी नहीं ठहरा दिया जाता था तब तक उस व्यक्ति को अपराधी नहीं माना जाता था। इन न्यायालयों के प्रधान अधिकारी १– विनिच्चय महामात्त, २– वोहारिक (व्यावहारिक), ३–सूत्तधार, ४–अट्ठकुलक, ५–भाण्डागारिक, ६–सेनापति, ७–उपराजा तथा ८–राजा कहलाते थे। ये न्यायालय क्रमश: श्रेष्ठतर थे। कोई भी न्यायालय अगले न्यायालय के पास मुकद्मा तभी भेजता था जब वह व्यक्ति को दोषी पाता था अन्यथा उसे अपने स्तर पर ही मुक्त कर देता था। राजा का न्यायालय अन्तिम न्यायालय था। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि दण्ड देने का अधिकार केवल राजा को होता था। अन्य न्यायालय निर्दोष होने पर अपराधी को मुक्त तो कर सकते थे किन्तु दोषी होने पर दण्डित नहीं

कर सकते थे। वे उसे उच्चतर न्यायालयों में भेज देते थे। राजा दण्ड देते समय पूर्व दृष्टान्तो का अनुसरण करता था। इससे स्पष्ट होता है कि नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।

यद्यपि यह सत्य है कि प्राचीन काल के ये गणतंत्र आधुनिक काल के गणतंत्र की भांति नहीं थे जिनमें कि शासन की अन्तिम शक्ति जनता के हाथों में रहती है, परन्तु फिर भी हम इन्हे प्रजातंत्र तथा गणतंत्र कह सकते है क्योंकि वास्तव में प्रजातंत्र वह है जिसमें शासन की सम्पूर्ण शक्ति किसी एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित न होकर एक समूह, गण या परिषद के हाथ में होती है, फिर चाहे उसके सदस्यों की संख्या कम हो या अधिक। जबकि इन राज्यों में शासनाधिकार थोड़े से लोगों के हाथ में न रहकर एक काफी बड़े वर्ग के हाथ में था। फिर जब हम प्राचीन रोम, यूनान तथा इटली के राज्यों को प्रजातंत्र मान सकते है जिनमें भी आधुनिक लोकतंत्र के सभी लक्षण विद्यमान नहीं थे और इनमें भी मतदान का अधिकार एक छोटे से वर्ग के हाथ में था, जो बहुसंख्यक वर्ग पर शासन करता था। अतः जिस अर्थ में प्रामाणिक राजनीतिक ग्रन्थों में यूनान, रोम तथा इटली के राज्यों को प्रजातंत्र माना गया है उसी अर्थ में प्राचीन भारतीय गणराज्य भी प्रजातंत्र कहलायेंगे।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय गणराज्यों की शासन पद्धति के स्वरूप की जो थोड़ी बहुत जानकारी हमे बौद्ध धार्मिक संघों की कार्य–प्रणालियों के आधार पर मिलती है उससे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि इनकी शासन–व्यवस्था अत्यन्त सुंसगठित तथा व्यवस्थित थी। बुद्ध स्वयं इनकी शासन–पद्धति से बहुत प्रभावित थे। यही कारण है कि उन्होंने गणतंत्रों की शासन पद्धति के आधार पर बौद्ध धार्मिक संघों का निर्माण किया। वज्जि संघ की प्रशंसा करते हुए उन्होंने अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि "जब तब वे बार–बार अपने संस्थागार में एकत्र होते रहेंगे, मिलकर सहमति से कार्य करेंगे, सामुहिक निर्णयों का उल्लंघन नहीं करेंगे, प्राचीन परम्पराओं का अनुसरण करेंगे तथा बुजुर्गो का आदर–सत्कार करेंगे तथा उनकी बात मानेंगे तब तक उन्नति होती रहेगी।"[१९]

इस प्रकार उपरोक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में प्राचीन समय से ही गणतंत्रात्मक शासन पद्धति प्रचलित थी और एक लम्बे समय तक देश में इसका अस्तित्व भी बना रहा, परन्तु साम्राज्यवादी प्रवृति तथा विदेशी आक्रमण के परिणामस्वरूप इसका अन्त हो गया।

डॉ. देवेन्द्र कुमार गुप्ता
व. प्रवक्ता
प्रा.भा.इति.,सं. एवं पुरा. विभाग
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. हरिद्वार

सन्दर्भ

१. रिज् डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. १,२,१९ और आगे।

२. काशी प्रसाद जायसवाल, मॉर्डन रिव्यू, पृ. ५३५ और आगे।

३. डॉ. डी. आर. भण्डारकर, करमाइकल लेचर्स, १, पृ. १४६ और आगे।

४. अवदानशतक, २/१०३, 'केचिद् देशा गणाधीना: केचिद्देशा राजधीना: इति'

५. आचारांगसूत्र, २/३/१/१०१, 'अरायणि वा गणरायणि वा जुवरायणि वा वरज्जणि वा विरुद्धरज्जणि वा'

६. सदाशिव अलतेकर, प्रा.भा. शासन–पद्धति, पृ. ७९

६अ. अर्थशास्त्र, ११/१, 'लिच्छविक वृज्जिक कुकुर कुरु पाञ्चालोदयो राजशब्दोपजीविन: संघा:।' ललितविस्तार, अ.३, 'नोच्च मध्य वृद्ध ज्येष्ठानुपालिता एकैक एव मान्यते अहं राजा अहं राजेति। न च कस्यचित् शिष्यत्वमुपगच्छति।'

७. जातक, ४/१४५

८. जातक, १/५०४, ३/१, 'तत्थ निचकालं रज्जं कारेत्वा वसंतानं येव राजूनं सत्तसहस्सानि सत्तसतानि सत्त च राजाओ होति। तत्तका ये व उपराजानो तत्तका सेना पतिनो तत्तका भांडागारिका।'

९. कॉवेल, दि जातक, भाग iV पृ. ९१–९२

१०. मैक्रिण्डल, एंशियेंट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृ. ४५

११. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ. ८९, डॉ. भण्डारकर, करमाइकल लेक्चर्स, १९१८, पृ. १३५

१२. चुल्लवग्ग, ७.२.७

१३. महावग्ग, ३.३.६

१४. चुल्लवग्ग, ४.१४.२४

१५. रॉकहिल, लाइफ ऑफ बुद्ध, पृ. ११८–१९

१६. अलतेकर, पूर्वोक्त, पृ. ९२–९३

१७. महावग्ग, ९/४

१८. अलतेकर, पूर्वोक्त, पृ. ९६

१९. बुद्धचर्या, महापरिनिब्बानसूत्त, पृ. ५२३–२४

ऋग्वेदिक सुभाषितों में सत्य वर्णन

इस संसार का आधार सत्य है अथवा यह संसार ही सत्य पर टिका हुआ है। ऐसा विश्वास सभी देश, धर्म और समाजों में किया जाता है। युग–युगों से सत्य का बखान विभिन्न माध्यमों द्वारा किया जाता रहा है। सत्य का पालन और असत्य का त्याग सभी धर्मों का मूल मंत्र है। यही तपस्वियों की तपस्या का आधार है, गृहस्थियों का मूल धर्म है और बालकों का मूल कर्म है। वेदों में भी सत्य की सत्ता को स्वीकार किया गया है। ऋग्वेदीय सुभाषितों में सत्य को विभिन्न रूपों में दर्शाया गया है। विभिन्न देवी–देवता सत्यवादी कहे गए हैं–

द्यावा–पृथ्वी सत्यवादी है। वे प्रार्थना सुनते हैं[1], इन्द्र इस सत्यनिष्ठ बुद्धि के कारण द्युलोक का स्वामी है।[2] ये मित्र आदि देव सत्य के निवास स्थान पर ही बढ़ते हैं।[3] सूर्य सदा सत्यनिष्ठ है, उसे सदा श्री मिलती है।[4] सूर्य सत्यनिष्ठ, सत्य से उत्पन्न और सत्य का वर्धक है।[5] देवों ने सत्य से सूर्य को द्युलोक में रखा।[6] सत्य से सूर्य टिके हुए हैं।[7] मरुत देव सत्य के उपासक हैं वे सत्य से ही सत्य को प्राप्त हुए हैं।[8] मित्र–वरुण सत्य से युक्त हैं।[9] अग्नि सत्य से अपना अभीष्ठ सिद्ध करता है।[10] इन्द्र की सत्य वाणी नदी के प्रवाह के तुल्य बहती है।[11] मित्र–वरुण पाशधारी है और असत्य के रोकने वाले हैं।[12] मित्र–वरुण सत्य के द्वारा सारे असत्य को पार कर जाते हैं।[13] द्यावा पृथ्वी सत्य के कारण उत्कृष्ट है।[14] हे इन्द्र ! तुम सत्य भाषण के अग्रणी हो।[15] तुम मायाओं से परे हो। सत्यलोक में तुम्हारा नाम है।[16] पृथ्वी सत्य से रूकी हुई है।[17] हे सूर्य ! सत्य से ही तुम्हारा इतना महत्त्व है।[18] आदित्यदेव भंयकर है और वे असत्य से घृणा करते हैं।[19] हे ईश ! तुम सत्य प्रेमी को उच्च जीवन के लिए ज्ञान देते हो।[20] अग्नि ने सत्य के द्वारा अन्य देशों को तिरस्कृत किया।[21] द्युलोक अग्नि का पिता है और सत्य का वर्षक है।[22] हे अग्नि ! तु सत्य की अनेक धराओं को बहावो।[23] अदितिपुत्र तरूण असत्य व्यवहारों को नष्ट करता है।[24] सोम, पापी और असत्यवादी को नष्ट कर देता है।[25] मित्र वरूण अपने तेज एवं सत्य से असत्य को दूर हटाते हैं।[26] सत्य के लिए द्यावा पृथ्वी विशाल और गम्भीर है तथा उत्तम सुख बरसाते हैं।[27] सत्यनिष्ठ मित्र वरुण सत्य का विस्तृत प्रचार करते हैं।[28] सेना से युक्त इन्द्र वरूण सत्य से ही वृत्र को मार सके हैं।[29] हे सत्य के ज्ञाता अग्नि! तु सत्य को ही स्वीकार करो।[30]

उपरोक्त मन्त्रों में विभिन्न देवी–देवता भी सत्य को मानने वाले और सत्य के उपासक कहे गए हैं। सूर्य सत्य से उत्पन्न माने गए हैं और सत्य के वर्धक हैं। मित्र वरुण सत्य की रक्षा करने

वाले हैं। वे असत्य को पाश में बांध लेते है। सत्य बोलने वालों में इन्द्र अग्रणी माने गए हैं। उनकी सत्य वाणी में नदी जैसा प्रवाह है। पृथ्वी के टिकने का कारण सत्य है। द्यावापृथ्वी सत्य के कारण उत्कृष्ट हैं। अग्नि अपने अभीष्ट सत्य से सिद्ध करती है। द्युलोक सत्य का वर्णन करने वाला है। सूर्य सत्य के कारण महत्त्वपूर्ण है और सोम सत्य की रक्षा के लिए असत्यवादी को नष्ट कर देता है अर्थात् सभी देवता सत्य के उपासक हैं। सत्य के जन्म, स्थिति और रक्षा में सभी देवताओं का कुछ न कुछ योगदान माना गया है। न केवल देवताओं के लिए बल्कि ऋषियों ने अपने तथा जनसाधारण के लिए भी सत्य के महत्त्व को स्वीकार किया है।

मंत्र दृष्टा ऋषियों ने सत्य की सत्ता स्वीकार करते हुए यह कामना की है कि हम सदा सत्य के मार्ग पर ही चलें। जनसाधारण को सत्य बोलने के लाभ बताते हुए भी किन्चित सुभाषित उपलब्ध होते है।

ऋषि प्रार्थना करता है कि हम सत्य ही बोले[३१] क्योंकि सत्य का प्रेमी सदा सत्य को ही अपनाता है।[३२] सत्य बोलने वाले सत्यवादी के ही सम्पर्क में आते हैं।[३३] ऋषि इच्छा व्यक्त करता है कि मैं सत्य वचन का ही आदर करता हूँ।[३४] सत्य विचार वाले और सत्य कर्म वाले हमारे यज्ञ में आवे।[३५] यज्ञकर्त्ता संसार को समृद्ध करते हुए सत्य के मार्ग पर चलते हैं।[३६] यजमान सत्य वचन को पूरे प्रवाह से फैलाते हैं [३७] क्योंकि सत्य विचार वाले और पराक्रमी जन यशस्वी होते हैं[३८] सत्य के उपदेष्टा ईश्वर का गुणगान करते हैं[३९] सत्य के गुणगान से देवता प्रसन्न होते हैं[४०] सत्यवादी सभा की विचारधारा सर्वत्र फैलती है।[४१] सत्य की प्रशंसा बहरों के कानों में भी प्रवेश कर जाती है।[४२] ईश्वर जो कुछ विचार करता है, वह सत्य होता है, व्यर्थ नहीं[४३] सत्य से वृद्धि होती है।[४४] सत्य के ज्ञाता समृद्धि के मार्गों को जानते हैं।[४५] सत्यनिष्ठ मनुष्य देवों से सत्य ही बोलते हैं।[४६] सत्य के मार्ग सुगम हैं[४७] हम सत्य व्यवहार में अग्रणी हों[४८] क्योंकि सत्य की नौका पुण्यात्मा को पार लगा देती है।[४९]

इस प्रकार विभिन्न सुभाषितों में सत्य के ही प्रचार–प्रसार पर अधिक बल दिया गया है। ऋषि कामना करता है कि सत्यवादी ही यज्ञ में भाग लें क्योंकि ऐसे व्यक्ति यशस्वी होते हैं। देवता का गुणगान भी सत्य भाषण करके किया जा सकता है। सत्य की महिमा ऐसी है जिसकी प्रशंसा बहरों के कानों में भी प्रवेश कर जाती है। सत्य के मार्ग पर चलना सरल है तथा सभी को सत्य का ही पालन करना चाहिए क्योंकि सत्य पुण्यात्मा को भी जन्म मरण के चक्र से पार लगा देता है।

सत्य के साथ ही साथ अहिंसा विषय पर भी कुछ ऋग्वेदिक सुभाषित उपलब्ध होते हैं। अधिकतर सुभाषित में रूद्र देवता से हिंसक न होने की प्रार्थना की गई है।

हे रूद्र ! तुम हमारे छोटे और बड़ों की तथा माता–पिता की हिंसा न करना। हे रूद्र !

तुम हमारे प्रिय शरीर को हानि न पहुंचावो। हे रूद्र ! तुम हमारे युवकों एवं व्यस्कों की हिंसा न करो।[५०] हे रूद्र ! हमारे पुत्र पौत्र और पारिवारिक जनों की हिंसा न करों। तुम हमारे लड़ाकू वीरों की हत्या न करना। हमारे गाय और घोड़ों पर क्रोध न करना[५१] हे रूद्र ! तुम हमारी हिंसा न करना और न हमारा त्याग करना।[५२]

रूद्र देवता अत्यन्त क्रोधित स्वभाव के माने गए हैं। मंत्र दृष्टा ऋषि उनकी कृपा दृष्टि की कामना अपने परिवार पर, शरीर पर, स्वयं पर तथा अपने रक्षक नौजवानों पर भी करते हैं। यत्र–तत्र अन्य देवताओं के लिए भी प्रार्थना मंत्र उपलब्ध होते हैं।

हे अश्विनी ! तु हमें हानि न पहुंचावो, हमारा हित करो।[५३] हे इन्द्र ! तुम हमारी हिंसा न करना और न हमारा त्याग करना[५५] पृथ्वी का उत्पादक ईश हमारी हिंसा न करें।[५६]

कतिपय मंत्रों में ऋषि अपने लिए प्रार्थना करता है कि हम हिंसक मनुष्य और सम्बन्धी से न मांगे।[५७] दूसरे मनुष्यों का उत्साहवर्धन करते हुए ऋषि कहता है कि–हे सौम्य मनुष्यों! तुम हतोत्साहित न हो, पुरूषार्थ करों।[५८]

भगवान रूद्र के लिए भी प्रार्थना की जाती है–हे रूद्र ! गाय और मनुष्यों की हत्या करने वाले तुझसे दूर हो।[५९]

इस प्रकार ऋग्वेदिक सुभाषितों में सत्य व अहिंसा के महत्त्व को भली–भांति वर्णित किया गयाा है। विभिन्न देवताओं का सत्यवादी होना, देवताओं से अपने लिए सत्य स्वरूप शक्ति मांगना, सत्य से लाभ, असत्य से हानि तथा अहिंसा के महत्त्व को इन सुभाषितों में प्राप्त किया जा सकता है।

आधुनिक युग में भी सत्य की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किसी भी प्रकार का प्रशासन सत्य के अभाव में नहीं चलाया जा सकता। सत्य वचनों के आधार पर बड़ी से बड़ी व्यवसायिक मंडियां चला करती है। घर में बच्चे को बोलना सिखाते समय सत्य बोलने पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया जाता है। असत्यवादी के वचनों पर आज भी कोई ध्यान नहीं देता। जबकि सत्यवादी सज्जन उच्च पद की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

इसलिए **"सत्यं वदं"** का उद्देश्य सभी के जीवन में समान रूप से रहना चाहिए।

डॉ. प्रीति गर्ग
११/१ ए, रेल विहार
मनसा देवी काम्पलैक्स
सैक्टर–४, पंचकूला (हरियाणा)

सन्दर्भ संकेत

१. १०/१२/१
२. ८/१३/८
३. ७/६०/५
४. २/३०/१
५. ७/६६/१३
६. १०/६२/३
७. १०/८५/१
८. ७/५६/१
९. १/१५२/१
१०. १०/१२/१
११. ८/१३/८
१२. ७/६५/३
१३. १/५२/१
१४. १०/१२/१
१५. १३/३१/८
१६. ५/४२/२
१७. १०/८५/१
१८. २/२७/८
१९. ७/६६/१३
२०. १/९१/७
२१. १०/१२/२
२२. ४/१/१०
२३. ५/१२/२
२४. ७/८४/४
२५. ७/१०४/१३
२६. १/१३९/२
२७. ४/२३/१०
२८. १/१५१/४
२९. ६/६८/२
३०. ५/१२/२
३१. ३/५५/३
३२. ४/२३/१०
३३. १०/६१/१०
३४. ५/१२/२
३५. ५/५१/२
३६. ३/४/५
३७. १/१४१/१
३८. ४/५५/२
३९. ८/१००/४
४०. १/१४१/१
४१. १०/१११/२
४२. ४/२३/८
४३. १०/५५/६
४४. ९/७०/८
४५. १/१७२/८
४६. १/१७९/२
४७. ८/३१/१३
४८. ८/१९/३५
४९. ९/७३/१
५०. १/११४/७
५१. १/११४/८
५२. ७/४६/४
५३. ७/७३/४
५४. ४/२०/१०
५५. १/१०४/८
५६. १०/१२१/९
५७. ४/३/१३
५८. ७/३२/९
५९. १/११४/१०

शंकर एवं अद्वैतवाद-एक दार्शनिक रूप

वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद का प्रचार भारत में बहुत प्राचीनकाल से रहा है। किन्तु जगद्गुरू शंकराचार्य ने इसकों केवल नूतन और परिष्कृत रूप ही नहीं दिया बल्कि इस सिद्धान्त के प्रचार का श्रेय उन्हीं को है। इसी कारण से अद्वैतवाद शंकर के नाम के साथ ही प्रख्यात है। वेदान्त दर्शन पर न जाने कितने आचार्यों ने अपने भाष्य प्रस्तुत किये पर शंकर का शांकर भाष्य आज भी अद्वैत का सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

जब भारत में जैन नास्तिक दर्शन का प्रचार व प्रसार हो रहा था ऐसे समय में द्रविणदेशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्यपूर्वक व्याकरण आदि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगा—सत्य आस्तिक वेदमत का छूटना व जैन नास्तिक मत का चलन यह तो बड़ी हानि की बात है। यही सोचकर उपदेश व शास्त्रार्थ का आयोजन किया जाने लगा। जैनमतानुसार सृष्टि का कर्त्ता कोई नहीं, यह जीव व जगत अनादि है, न इनकी कभी उत्पत्ति होती है न कभी विनाश होता है। इसके विरूद्ध शंकर का मत था कि अनादि सिद्ध परमात्मा ही जगत का कर्त्ता है। यह दृश्यमान संसार असत्य है क्योंकि परमेश्वर ने अपनी माया से जगत बनाया है, वही धारण व प्रलय कर्त्ता है। यह जीव व प्रपन्च स्वप्नवत् है। परमेश्वर इस संसार के रूप में अपना स्वरूप प्रकट कर रहा है। शंकर शास्त्रार्थ में विजयी रहे व जैन पराजित हुये उसके बाद शंकर ने जगह—जगह अपने मत का प्रचार किया, जगह—जगह यज्ञोपवीत होने लगे, वेदों का पठन—पाठन होने लगा। सम्पूर्ण आर्यावर्त्त में जैनियों का खण्डन व वेदों का मण्डन होने लगा। उसी समय जैनियों ने अपने गुरु की प्रतिमा जमीन में गाड दी जो आज तक मिलती है। शंकर ने १२ वर्ष से १६ वर्ष के बीच २७२ ग्रन्थ लिखे जिनमें ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, दशोपनिषद्भाष्य व गीताभाष्य विवेक चूड़ामणि प्रमुख है। शंकर में प्रकांड पांडित्य, गम्भीर विचार शैली, प्रचण्ड कर्मशीलता, अगाध भगवद्भक्ति, सर्वोच्च त्याग, अद्भुत यौगेश्वर्य आदि अनेक गुण थे। उनकी वाणी में साक्षात् सरस्वती विराजती थी। इसी कारण ३२ वर्ष की आयु में यातायात की सुविधा का अभाव होने पर भी सुदूर कश्मीर एवं बद्रीनारायण धाम से कन्याकुमारी तक सारे भारत में भ्रमण कर शैव, कापालिक, शाक्त और बौद्ध व जैन धर्म के पृष्ठपोषकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। भारत के चार कोनों में चार प्रधान मठ स्थापित करके सारे देश में युगान्तर उपस्थित कर दिया। इस प्रकार डूबते हुये हिन्दू धर्म का पुनरूद्धार कर उसे दृढ़ नींव पर स्थापित किया। परिणामस्वरूप मुसलमानों के भयंकर

आक्रमणों के बावजूद हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा होती रही।

शंकर के अनुसार जितना भी दृश्यवर्ग है, सब माया के कारण विभिन्न सा प्रतीत होता हैं वह अखण्ड शुद्ध परमात्मा ही है। सम्पूर्ण प्रतीतियों के स्थान में एक अखण्ड सच्चिदानन्द का अनुभव ही ज्ञान है। जल का रूप कभी तरंग में तो कभी भंवर में तो कभी धारा रूप में प्रतीत होता है, वास्तव में होता वह जल ही है। ऐसे ही यह संसार हमें विधि–भेद संकलित दिखाई देता है, होता वह ब्रह्म ही है उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं, वही आत्मा है। इस बात का ज्ञान होना कि सम्पूर्ण जगत माया का प्रसार है और सच्चिदानन्द से उसका अभेद है–ज्ञान कहलाता है।

शंकर ने श्रवण, मनन व निदिध्यासन को ज्ञान का साधन माना है। किन्तु इसकी सफलता ब्रह्म की जिज्ञासा होने पर ही है। जो मनुष्य विवेक वैराग्य आदि षट सम्पत्ति व धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष आदि चार साधनों से युक्त हैं उन्हीं का चित्त शुद्ध होने पर जिज्ञासा हो सकती है। चित्त शुद्धि के लिए सबसे पहले निष्काम कर्म की आवश्यकता होती है। शंकराचार्य जी ने भक्ति को ज्ञानोत्पत्ति का प्रधान साधन माना है उनके मतानुसार शुद्ध स्वरूप का स्मरण करना ही भक्ति है। ज्ञान को प्रधान और उपासना तथा कर्म को गौण माना है, उस समय के उपासना प्रचलित सभी धर्मों, पन्थों के आचार्यों से वाद–विवाद कर ज्ञान मार्ग का मण्डन किया और विजय प्राप्त कर अद्वैत का भी प्रचार किया।

साधारण जन समाज में अद्वैतवाद का पूर्ण प्रचार करने के निमित्त परमात्मा के सगुण रूपों की पूजा के अनेक साधन बनाये। यद्यपि वे ज्ञानमार्ग के ही पूर्ण पक्षपाती थे तथापि कर्म और भक्ति को ज्ञान का अवान्तर साधन समझकर वर्ण व्यवस्था के अनुसार कर्म करने की आज्ञा प्रदान करते थे।

केवल मोक्ष प्राप्ति के लिए उन्होंने **'अहिंसा परमो धर्म'** अर्थात् सबसे बड़ा धर्म हिंसा न करना ही है। हिंसा तीन प्रकार की बतायी है मन से, कर्म से, वचन से।

शंकर के मतों में सबसे प्रचलित **'ब्रह्मसत्यं जगत् मिथ्या'**, केवल सत्य वह ब्रह्म ही है ,संसार तो असत्य है। इस संसार की प्रतीती हमें अलग रूप में उसी प्रकार है जैसे कभी–कभी रज्जु में सर्प की प्रतीती होती है अर्थात् अन्धकार में पड़ी हुयी रस्सी को हम सर्प समझ कर के व्यर्थ में भयभीत हो जाते हैं उसी प्रकार से यह संसार हमें माया के आवरण के कारण पृथक् प्रतीत होता है पर वास्तव में ऐसा होता नहीं है। इसलिए यह संसार मिथ्या है।

शंकर ने कहा है **'जीवोब्रह्मैनापर:'** जीव व ब्रह्म दोनों एक ही हैं अर्थात् जीव की सत्ता पृथक् नहीं है बल्कि एक ही हैं। जिस प्रकार अग्नि लम्बे, चौड़े, गोल, छोटे, बड़े सब आकृति

वाले पदार्थों में व्यापक होकर तदाकार दीखती हैं, होती उनसे पृथक् है वैसे ही सर्वव्यापक परमात्मा अन्त:करणों में व्यापक होके अन्त:करणाऽऽकार हो रहा है परन्तु उनसे अलग है। जैसे अग्नि सबमें प्रविष्ट होकर देखने में तदाकार दीखती है इसी प्रकार परमात्मा जड़ और जीव में व्यापक होकर आकारवाला, अज्ञानियों को आकार युक्त दीखता है। वास्तव में वह न जड़ है न जीव है। जैसे सहस्रों घड़ों में जल भरके रखने पर सूर्य के सहस्रों प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगते हैं वस्तुत: सूर्य एक ही है। यदि हम उन घड़ों को नष्ट कर दें तो क्या सूर्य नष्ट होता है?, तब जीव ब्रह्मस्वरूप है। इस चिदाभास को अपने ब्रह्मस्वरूप का अज्ञानकर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दु:खी, पापी, पुण्यात्मा, जन्म–मरण अपने में आरोपित करता है। तब तक संसार के बन्धनों से नहीं छूटता। **'सर्व खल्विदं ब्रह्म'**, विश्वमात्र ब्रह्मस्वरूप है।

शंकराचार्य ने चार मठों की स्थापना करके चारों वेदां के विद्वानों को उनका मठाधीश नियुक्त किया।

१. **तुंगभद्रा के तट पर श्रृंगेरीमठ–** यह प्रधान मठ है। इसके सुरेशाचार्य प्रथम मठाधीश हुये है। यह यजुर्वेद के प्रकाण्ड पण्डित थे।

२. **शारदापीठ–** अष्ट द्वारिका के प्रथम मठाधीश हुये हैं। यह सामवेद के ज्ञाता थे।

३. **गोवर्धन मठ–** यह पुरी में स्थित मठ है। इसके मठाधीश आचार्य पद्मपाद जी थे जो ऋग्वेद के प्रकाण्ड पण्डित थे।

४. **जोशीमठ–** यह बदरिकाश्रम में स्थित है इसके प्रथम आचार्य तोटक जी हैं। यह अथर्ववेद ज्ञाता थे।

इसके अतिरिक्त कांची का कामकोटि पीठ भी आचार्यों द्वारा स्थापित माना गया है। प्रकाण्ड विद्वान श्री इन्दिरारमण जी का विचार है कि यह बात आँख मूंदकर मान लेने योग्य नहीं है कि देश व्यापी और सुसंगठित शंकर–मिशन सिर्फ मायावाद या अद्वैतवाद के लिए प्रचार के लिए ही कायम हुआ था। आज भी शंकर सम्प्रदाय के चार मठ, चार सम्प्रदाय, सात अखाड़े और बावन कुटियां देश के चतुर्दिक स्थापित हैं। नागा लोगों का फौजी बनना, अस्त्र–शस्त्र निशान (सैनिक ध्वज) लड़ाकू स्वभाव आदि संस्कार अब भी विशेष रूप से देखा जाता है। इन सबसे भी यही ज्ञात होता है कि शंकर–सम्प्रदाय का वह विचार व्यूह अवश्य किसी विशेष सामाजिक प्रयोजन से रचा गया था। वह प्रयोजन था वाममार्गी नगली बौद्धों, जैनियों तथा विदेशी एवं विधर्मी आक्रमणकारियों से भारतीय वर्णाश्रम धर्म, समाज तथा देश की रक्षा करना। उसके लिए सुधार और संहार दोनों की आवश्यकता थी। सुतरां परिस्थिति के अनुसार शंकर को ब्रह्मक्षात्र–संयुक्त समाज धर्म को अपनाना पड़ा और यथा प्रयोजन शास्त्र तथा शस्त्र दोनों से

काम लेना पड़ा। शंकर सम्प्रदाय मुख्यत: धर्म सैनिक और समाज निर्माताओं का संगठन था। पर, न जाने क्यों उसके तद्विषयक इतिहास उपेक्षित रहा।

इन्दिरारमण जी के अनुसार 'शंकराचार्य को अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए दो बार, दो प्रकार से वर्ण और आश्रम का परिवर्तन करना पड़ा। पहले बौद्ध व मुसलमानों से वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करने के लिए विशेषत: मुसलमानों के विध्वंसक आक्रमणों से तत्कालीन हिन्दू–मठ–मन्दिरों को बचाने के लिए उन्होंने चातुवर्ण के अपने अनुयायी युवकों का एक विराट धर्मयुद्ध सैन्य दल संगठित किया। उसे सुदृढ़, निर्भय एवं निर्द्वन्द्व सैन्य बनाने को 'गोस्वामीकरण' की प्रक्रिया निकाली, जब शंकर ने देखा कि हमारे समाज में बौद्धों तथा विधर्मियों का उपद्रव होने लगा तब वह प्रयाग गये। वहां पर उन्होंने अपने मुख्य अनुयायियों को बुलाया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी लोग उनकी बात को मानने के लिए एकत्रित हुए। बहुत से नवयुवक एवं कुलीन लोग अपने घर का सुख त्याग करके, गौ, ब्राह्मणों और देवी देवताओं के हितार्थ, उनके दल में सम्मिलित हुए। उसी समय उन सबको 'गोस्वामी' की उपाधि ा प्रदान की गयी थी। वर्तमान समय में गुसांई शब्द गोस्वामी का ही रूप है। इस प्रकार बहुत थोड़े समय में उनके साथ एक बहुत बड़ा जन समूह हो गया। इस धार्मिक सेना को सात खण्डों में विभाजित किया गया। इस प्रत्येक विभाजन को अखाड़ा कहा गया। इन सात अखाड़ों में से दो ही अखाड़े इस समय भारत में हैं– १. निर्वाणी और २. निरंजनी।

गोसाई लोग किसी धर्म पर आक्षेप नहीं करते। परन्तु अपने धर्म की रक्षा करना परम कर्त्तव्य मानते हैं। वे छल, कायरता और असत्यता का आदर नहीं करते वस्तुत: वे सत्यवादी, दयावान और बहादुर होते हैं।

इन अखाड़े वाले गोस्वामियों के अपने विशेष चिन्ह झन्डा, बाण, चक्कर, भोगटे, जुजखे, तलवार, बरछी वगैरह अजीब अस्त्र होते थे। वर्तमान समय में कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार, प्रयाग आदि के चढ़ावों में निकलने वाले अखाड़ों के जुलूसों में इन चीजों का स्मारक प्रदर्शन होता है। वर्तमान समय में इन अखाड़ों में वह शौर्य, तेज, धर्मरक्षा के लिए मर मिटने का भाव, स्वाभिमान और भारतीयता का जोश तनिक भी नही है, जिसकी बदौलत सम्पूर्ण भारतवर्ष विधर्मी होने से बच गया था। नि:सन्देह कह सकते है। कि शंकराचार्य तथा सिक्ख गुरुओं के धार्मिक सैन्य दल ने ही विधर्मियों को, भारतीयों के धर्मभ्रष्ट करने के हौसले और इरादे छोड़ देने के लिए विवश किया। हिन्दू सन्त पन्थियों ने पूर्वोक्त प्रकार के धर्मरक्षक सैन्यदल संगठित कर आक्रमणकारी विधर्मियों का विरोध ही नहीं किया, बल्कि समाज सुधारक तथा लोकसंग्राहक कार्यों के द्वारा, विधर्मी हुये हिन्दुओं को पुन: वर्णाश्रमी भी बनाया और मूल विधर्मियों को भी संस्कारों से शुद्ध वर्णाश्रम धर्म में मिलाया।

इस प्रकार वर्णाश्रमधर्म को फिर से स्थापित कर शंकर ने जप, व्रत, उपवास, दान, संस्कार, प्रायश्चित आदि को फिर से जीवित किया। उन्होंने अद्वैतवेदान्त की व्याख्या की और साथ–साथ पंचदेव विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति परमात्मा के पांच स्वरूपों की उपासना प्रचलित की। पंचदेव की उपासना का व्रत मत स्मार्त्तमत कहलाया। आज के सनातन धर्मी इसी स्मार्त्तमत के अनुयायी समझे जाते है।

आचार्य शंकर से पूर्व वैदिक धर्म का जो ह्रास हो रहा था, उसे रोककर पुन: वैदिक धर्म को स्थापित और प्रचलित करने का श्रेय स्वयं जगद्गुरु शंकराचार्य को है। शंकर ने ईश्वर के निराकार रूप का समर्थन कर अवतारवाद की धारणा का विरोध किया। उनके अनुसार केवल सत्ता उस परमेश्वर की ही है। उन्होंने अपने अद्वैतवाद के प्रचार से बौद्धों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का खण्डन कर अपदस्थ कर दिया। उनके समय में अन्य अवैदिक तान्त्रिक वाय–मार्गो पद्धतियों का बोलबाला था। वे समाज में अनाचार फैलाते रहे। आचार्य ने उनका ऐसा खण्डन किया कि वह कहीं नहीं टिक सके। सर्वोपरि, हिन्दू जाति का संगठन कर भावी धार्मिक आक्रमण से भारत की रक्षा की।

शंकर का दर्शन सिद्धान्त समुद्र की तरह गहरा व आकाश की तरह शान्त है। शंकर के अनुसार ब्रह्म स्वगत, सजातीय और विजातीय तीनों भेदों से परे कहा है। ईश्वर, सगुण ब्रह्म और कार्यब्रह्मा शंकर के अद्वैत वेदान्त के अनुसार पर्यायवाची शब्द हैं। माया की उपाधि से ब्रह्म ईश्वर बन जाता है और अविद्या से संसत्त होकर अविद्या की उपाधि से ब्रह्म का विशुद्ध चैतन्य स्वरूप जीव बन जाता है। शंकर के अनुसार ज्ञानाग्नि में कर्म–अकर्म के जल जाने पर मुक्ति होती है। तब जीव ब्रह्म में अभिन्न रूप में मिल जाता है इसी लिए वह ब्रह्म ही अद्वैत हैं।

डॉ. प्रभात कुमार
व. प्रवक्ता
प्रा.भा.इति.,सं. एवं पुरातत्व
गु.कां.वि.वि. हरिद्वार

गीता में स्थितप्रज्ञ की अवधारणा

गीता वैदिक ज्ञान का सार हैं।[1] यह वैदिक साहित्य का सर्वोत्तम महत्त्वपूर्ण अंश है। श्रीमद्भगवद् गीता को 'गीतोपनिषद्' भी कहते हैं।

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को ४ भागों में विभक्त कर ऋषि प्रवर व्यासदेव ने विचार किया कि वेदार्थ अत्यन्त गम्भीर, दुरूह एवं सूक्ष्म है। यह सामान्य जन की बुद्धि परिधि से बाहर की वस्तु है। अत: उन्होंने 'महाभारत' ग्रन्थ की रचना की। गीता इसी विशाल ग्रन्थ का सार है। महाभारत के ५ रत्नों में यह सर्वप्रथम है–गीता, विष्णु सहस्रनाम, स्तवराज, अनुस्मृति एवं गजेन्द्र मोक्ष।

सम्पूर्ण उपनिषद् गायें, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण, दोग्धा, पार्थ–बछड़ा, विद्वज्जन, इस के भोक्ता हैं। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता अमृत स्वरूप दुग्ध हैं–

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत्।।

गीता श्रीकृष्ण भगवान् के मुखारविन्द से नि:सृत पावन निष्यन्द है। इसकी महत्ता बताते हुए वे कहते है–

गीताऽश्रयेऽहं तिष्ठामि, गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपश्रित्य, त्रील्लोकान् पालयाम्यहम्।।

धर्म, जाति, सम्प्रदाय के प्राकार से हटकर समग्र विश्व में सर्वभौम धर्म का उपदेशक ज्ञान कर्म एवं भक्ति की पयस्विनी का प्रवाहक, सुख–शान्ति का उपदेशक, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति परक, परम पुरूषार्थ मोक्ष का प्रदायक 'गीता' ग्रन्थ की आज के मानव जीवन की भौतिकतावादी एवं उपभोक्तावादी संस्कृति में नितान्त अपेक्षा है। मानव जीवन के पतनशील नैतिक मूल्यों के संरक्षण हेतु इसके सिद्धान्तों का स्वाध्याय एवं प्रचार–प्रसार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

आज जहां वैश्वीकरण की नीति चल रही है, वहां दुनियां के एक छोर से दूसरे छोर को मिलाने वाले गीता जैसे विश्व धर्म ग्रन्थ का अनुशीलन सर्वत: उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

गीता के कतिपय सिद्धान्त मानव–समाज के लिए अतीव उपयोगी है। जैसे गीता में कर्म योग, निष्काम कर्म का प्रतिपादन, ज्ञान योग की श्रेष्ठता, आत्म स्वरूप एवं मोक्ष वर्णन, इन

सिद्धान्तों को मनुष्य को अपने जीवन में धारण करना पड़ेगा। जिससे उसे वास्तविक शान्ति, सुख एवं सन्तोष की प्राप्ति हो सके। गीता के इन्हीं सिद्धान्तों में स्थितप्रज्ञता भी एक है।

वेदान्त दर्शन में मोक्ष का स्वरूप है—जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य या ब्रह्मनिष्ठ होना। इस मोक्ष में विघ्न स्वरूप अविद्या का निवारण गुरु—कृपा से सम्भव होता है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाने पर गुरु शिष्य पर कृपा करके उसका अज्ञान दूर करके उसे अद्वैत, माया रहित परब्रह्म का उपदेश करते हैं। पुन: 'तत्त्वमसि' वाक्य से साधक शिष्य को 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य द्वारा अखण्ड ब्रह्म के सत्, चित् आनन्द स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

वेदान्त दर्शन की मान्यता के अनुसार कर्म ३ प्रकार के है :—

१. संचित पूर्वकाल के वे कर्म, जो जमा है परन्तु फल नही दे रहे हैं, क्षेत्र के सुप्त बीज की तरह।
२. क्रियमाण या संचीयमान— वे नये कर्म जो मनुष्य द्वारा प्रतिदिन किये जा रहे है, जैसे कृषि, वाणिज्य, सेवादि।
३. प्रारब्ध कर्म—पूर्वकाल के वे कर्म, जिनका फल भोग वर्तमान समय में हो रहा है। ऐसे कर्म पुण्य एवं अपुण्य रूप होते है।[2]

इन त्रिविध कर्मों में संचित एवं क्रियमाण का क्षय तत्त्वज्ञान से होता है एवं पूर्वजन्म के बन्धन से छुटकारा मिलता है। परन्तु प्रारब्ध कर्मों का निवारण तत्त्व ज्ञान से सम्भव नही, उसका क्षय फल भोग से ही होता है।[3] इन्हीं प्रारब्ध कर्मों का फल भोग करने के लिए मनुष्य को पांच भौतिक शरीर की प्राप्ति होती है। पूर्वजन्म में कृत—सुकृत एवं दुष्कृत सभी कर्मों का फल हमें इस जन्म में इसी शरीर से भोगना पड़ता है। यह भोग अपरिहार्य है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि।।

अत: जब प्रारब्ध कर्म का पूर्ण क्षय हो जाता है तब मनुष्य का वर्तमान भौतिक शरीर भी नष्ट हो जाता है। जिस तरह कुम्भकार का चक्र दण्ड उठा लेने पर भी स्वत: (पूर्व वेग संस्कार वश) कुछ देर तक घूमता रहता है और फिर घूमते—घूमते वेग शान्त होने पर, आपसे आप रूक जाता है। इस प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाता है इसे 'विदेह मुक्ति' की अवस्था कहते हैं। योगीन्द्र सदानन्द ने भी 'जीवन्मुक्त' का स्वरूप वर्णित किया है परन्तु ब्रह्म ज्ञान या मोक्ष के उपरान्त भी मानव शरीर जीवित रहता है वह तत्काल नष्ट नहीं होता क्योंकि यह पूर्वसंचित प्रारब्ध कर्मों का फल है।[4] इस अवस्था को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं।

जैसे व्याघ्र बुद्धि से चलाया गया बाण बाद में उसे गौ समझकर भी बीच में नही रुकता,

लक्ष्य भेदन करता ही है। वैसे ही ज्ञानोत्पत्ति के पूर्वकृत प्रारब्ध कर्म ज्ञान से विनष्ट नहीं होता प्रत्युत अपना फल देता ही है।

अत: ब्रह्म ज्ञान उदय होने पर प्रारब्ध कर्माश्रित देह का संद्य:पतन नही होता" योगीन्द्र सदानन्द ने भी जीवन्मुक्ति का स्वरूप वर्णित किया है।[६]

योग दर्शन के अनुसार क्लेशमूलक कर्म के निवृत्त होने पर जीव जीवित रहते ही विमुक्त हो जाता है।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार बुद्धि भूमि अविद्या रूप क्लेश से सिञ्चित होने पर कर्म के बीज उगते है। यथार्थ ज्ञान के सूर्य से भूमि के शुष्क हो जाने पर कर्म बीज से पुन: अंकुर नही जमते।[७]

जीवित पुरुष को कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दु:खादि चिन्तन के धर्म होते हैं अत: क्लेश रूप होने से पुरुष का बन्धन होता है, उसका निवारण ''जीवन्मुक्ति कहलाता है।[८]

आचार्य शंकर के अनुसार इसी संसार में ही अविद्या, काम, कर्म के बन्धनों से छूटकर प्राणी विमुक्त (जीवन्मुक्त) हो जाता है।[९]

शंकराचार्य के मत से अविद्या, काम, कर्म के संस्कार अल्पकाल तक स्थिर रहते हैं। तत्त्व ज्ञान के दर्शन होने पर उनसे भी निवृत्ति होती है। इसी अवस्था को जीवन्मुक्ति कहते है।[१०]

जीवन्मुक्त पुरुष एवं संसारी पुरुष में अन्तर होता है। वह शुभाशुभ दोनों प्रवृत्तियों में उदासीन होता है या केवल शुभ प्रवृत्तियां अनुवर्तित होती है।

जीवन्मुक्त पुरुष कर्तृत्वाभिमान से रहित होता है, वह सुख दु:ख दोनों से असंस्पृष्ट रहता है क्योंकि अपने को आत्मा मानता है, शरीर नहीं। वह प्रत्यक्ष गोचर संसार को मायोपम समझता है, वस्तुभूत नहीं। सांसारिक विषयों के प्रति उसे भोगमयी वासना नहीं होती। वह संसार में रहने पर भी उससे निर्लिप्त रहता है। जागतिक दृश्यों को देखते हुए भी अदृष्टा, सुनने पर भी अश्रोता, भोग करने पर भी अभोक्ता के समान होता है।

'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णौ अकर्ण इव', शंकराचार्य के अनुसार जाग्रत में द्वैत को देखते हुए भी अद्वैत का निश्चय हो जाने से सोये पुरुष की भांति नहीं देखता, कर्म करते हुए भी जो निष्क्रिय रहता है, वही आत्मवेत्ता है, ऐसा वेदान्त का निश्चय है।[११]

जीवन्मुक्ति का यह विचार भारतीय दर्शन के अनेक तंत्रों जैसे–सांख्य योग, वेदान्त, बौद्ध, जैन एवं स्मृति ग्रन्थों में उल्लिखित है।

उपनिषदों में भी जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त वर्णित है।[१२]

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तास्मिन् दृष्टि परावरे।।

श्रीमद् भगवद्गीता में इसको विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है– स्थितप्रज्ञ– अ. २/५४, भक्तः – गीताः १२/१३, त्रिगुणातीत –१४/२२,२७, ब्रह्मभूत– गीता १८/५४, ब्राह्मी स्थिति – २/२७

गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ जीवन्मुक्त का स्वरूप निम्न है।

जीवन्मुक्त पुरुष सभी प्राणियों (दरिद्र, अन्ध, विकलांग आदि) में द्वेष नहीं करने वाला, सबसे निःस्वार्थ प्रेम करने वाला, सबके प्रति दयालु, अहंता ममता से रहित, सुख–दुःख में समान भाव , शान्त चित्त एवं क्षमावान् होता है।

निर्ममो निरहंकारः समदुःख सुखः क्षमी।। (गीता. १२/१३)

योग दर्शन में मैत्री, मुदिता, करूणा, उपेक्षा इन भावनाओं से चित्त प्रसन्न होता है ऐसा कहा गया–'मैत्री करूणामुदित्तोंपेक्षाणों चित्तप्रसादनम्–यो. सू. १/३३. चित्त प्रसन्न होने से सुःख की प्राप्ति होती है, जीव का परमात्मा के साथ योग होता है।

स्थितप्रज्ञ पुरुष अपने मन में रहने वाली सभी कामनाओं का परित्याग कर देता है, वह आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।

विषयों के भोग से भोगेच्छा और बढ़ती है। (गी. २/५५)

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवामि वर्धते।।

मनु २/९४

मनु के विचार से जो प्राणी कामनाओं को त्यागता है एवं जो उसे भोगता है, उसमें सभी कामनाओं को त्यागने वाला श्रेयस्कर है।

प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते।

पृथिवी पर उपलब्ध समस्त ब्रीहि, सुवर्ण, पशु, स्त्रियां किसी एक पुरुष को मिल जायें, तो भी उसे तृप्त नहीं कर सकते ।

यत्पृथिव्यां ब्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यति तृषं त्यजेत्।।

विष्णु पुराण ४/२/४

जो साधक सभी पदार्थों में आसक्ति रहित होकर प्रारब्ध वश शुभ–अशुभ विषयों को प्राप्त करके हर्ष विषाद नहीं करता, (द्वन्द्वों में समभाव बनाये रखता है) उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहः तत्तप्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दतिः न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

(गी. २/५७)

मनुस्मृति में स्थितप्रज्ञ का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट एवं संवेद्य है। जो पुरुष 'तुम्हीं बृहस्पति हो' आदि अपनी प्रशंसा सुनकर, बांसुरी के मधुर गीतादि ध्वनि को सुनकर प्रसन्न नहीं होता, निन्दा अपमानादि सुनकर खिन्न नहीं होता, जो मेष–कम्बल या रेशमी वस्त्रों का स्पर्श करके खिन्न या प्रसन्न नहीं होता, जो सुवेश रमणियों या शत्रु समूह को देखकर प्रसन्न या खिन्न नहीं होता, घृत या दुग्ध मिश्रित पकवान या अस्वादु भोजन से प्रसन्न या खिन्न नहीं होता, जो देव दारु या कर्पूर को सूंघ कर प्रसन्न या खिन्न नहीं होता, ऐसे पुरुष जितेन्द्रिय (जीवन्मुक्त) होते है। वे सुख दुःख दोनों भावों में उदासीन या स्थिर होते है। क्षणिक सुखों या दुःखों से उनका मन व्याप्त नहीं होता।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयों जितेन्द्रियः।।

(म.स्मृ. २/९८)

गीता के अनुसार जो दुःखों में उद्वेग रहित होता है, सुखों के प्राप्त होने की इच्छा नहीं करता, सर्वथा आत्म स्वरूप देखने के कारण राग, भय, क्रोध से परे रहता है, उस मुनि को स्थितधीः कहते है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनि रुच्यते।।

(गी. २/५६)

गीता कहती है जैसे कछुआ अपने सब अंगों को समेट कर अपनी पीठ के नीचे कर लेता है वैसे ही ज्ञान निष्ठा में प्रवृत्त योगी अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से जब समेट लेता है, तो उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगांनीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

(गीता २/५८)

जो पुरुष चक्षु आदि सभी इन्द्रियों को विषयों से संयमित करके ब्रह्म में तत्पर होता है एवं जिसकी इन्द्रियां वश में होती है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित (स्थिर) होती है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

(गी. २/६१)

ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियों को शब्द, रूपादि विषयों से वश में करके तथा मन को नियंत्रित करके मनुष्य को श्रुति–स्मृति विहित कर्मों से साध्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी पुरुषार्थों को सिद्ध करना चाहिए। मनुस्मृति का भी ऐसा कथन है।

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान्संसाधेयदर्थान् क्षिण्वन् योगतस्तनुम्।।

(म. २/१००)

गीता के विचार से जो पुरुष राग–द्वेष रहित है, वशीकृत इन्द्रियों से विषय–सेवन करता है ऐसे स्वधीन मन वाले पुरूष का अन्तःकरण निर्मल होता है।

राग द्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधि गच्छति।।

(गी. २/६४)

जिस पुरुष का अन्तःकरण निर्मल होता है राग–द्वेष के कारण होने वाले उसके सभी दुःख नष्ट हो जाते है ऐसे निर्मल चित्त वाले पुरुष की बुद्धि स्थिर होती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।

(गी. २/६५)

गीता के अनुसार जिस पुरुष की बुद्धि एकाग्र नही, उसे ब्रह्म दर्शन करने वाली बुद्धि नही होती। उसे जगत् में ब्रह्म दर्शन से सम्बद्ध भावना उत्पन्न नहीं होती तथा ब्रह्म का ज्ञान करने वाली भावना के बिना न शान्ति मिलती है, न सुख।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्यकुतः सुखम्।।

(गी. २/६६)

श्रीकृष्ण के विचार से जो पुरुष तीव्र वैराग्य द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से रोक लेता है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित (स्थित) होती है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

(गी. २/६८)

प्रश्न है कि इन्द्रियों को विषयों से कैसे रोका जाय ? भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार – अभ्यास एवं वैराग्य से इन्द्रिय तथा मन को विषयों से निवृत्त करना चाहिए।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (गीता ३/३५)

योग दर्शन के अनुसार अभ्यास एवं वैराग्य –दोनों समुचित होकर चित्तवृत्ति निरोध में हेतु बनते हैं।

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः (योग सूत्र १/१२)

अतः आज के समाज में मानसिक कुंठा, तनाव, अवसाद, संकीर्णता, अकर्मण्यता आदि दोषों के व्याप्त होने पर गीता जैसे विश्वव्यापी ग्रन्थ का प्रचलन अति समसामयिक एवं युगानुरूप है। समाज को सन्मार्ग का उपदेश देने एवं कर्मवाद की ओर प्रेरित करने तथा सुखी शान्त जीवन यापन के लिए गीता के बहुमूल्य सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारना आवश्यक है।

डॉ. शिव शंकर गुप्त
रीडर–संस्कृत, टी.डी. कॉलेज
जौनपुर (उ.प्र.)

सन्दर्भ संकेत

1. Bhagwata Gita is the essence of all vedic Knowledge. Vide-Bhakti veda Swami prabhuy pad. pp.25
२. ज्ञानाविरूद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थो न पश्यति–वेदान्त सार पृ. २०२
३. सां. त. बसन्त पृ. ११७ एस.एस.एस. एडीसन
४. (क) तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवत् धृतशरीरः।। सां. का. ६७
(ख) न तावदनाश्रित्याराब्ध कार्य कर्माशयं ज्ञानोत्पत्तिरुपपद्यते। आश्रिते च तस्मिन् कुलालचक्रवत्प्रवृत्त वेगश्चान्तराले प्रतिबन्धासंभवात् भवति वेग क्षय प्रतिपालनम्। ब्र.सू. शां.भा. ४/१/१५
(ग) शरीर स्थितौ च प्रारब्धकर्म परिपाकौ धर्माधर्मो संस्कारौ तौ च भोगेन क्षेत्तत्यौ– सां.त. कौ. पेज १२९

५. विवेक चूड़ामणि –४५२ एवं ४५३

६. द्रष्टव्य–वेदान्त सार पृ. १९६, जीवन्मुक्तो नाम–ब्रह्मनिष्ठः ।

(क) क्लेश कर्म निवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तों भवति। (यो.भा. ४/३०)

(ख) सां.त.कौ. –सा.का. ६७

(ग) जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्व भोक्तृत्व सुखदुःखादि लक्षणाश्चित्त धर्माः क्लेश रूपत्वाद बन्धो भवति–तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिः। (जीवन्मुक्ति विवेक, पृ. १०२)

७. विवेक चूड़ामणि –४५२ एवं ४५३

८. द्रष्टव्य–वेदान्त सार पृ. १९६, जीवन्मुक्तो नाम ब्रह्मनिष्ठः ।

(क) क्लेश कर्म निवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तों भवति। (यो.भा. ४/३०)

(ख) सां.त.कौ. –सा.का. ६७

(ग) जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्व भोक्तृत्व सुखदुःखादि लक्षणाश्चित्त धर्माः क्लेश रूपत्वाद बन्धो भवति–तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिः। (जीवन्मुक्ति विवेक, पृ. १०२)

९. इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति। (कठो. ५/१, शां. भा.)

१०. अल्पकालावस्थायित्वसंस्कारस्य ततत्वदर्शनादेव, क्रमेण तस्यापि निवृत्तिः, स्वयमेव वा सचेयमवस्था जीवन्मुक्ति। (ब्र.सू.शां.भा. पृ. १३२)

११. उपदेश साहस्री १०/१३

१२. मुण्डको. २/२/८,

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिः स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, यत्र ब्रह्म समश्नुते।।'

(बृह. उप. ४/४/७), (कठो. ६/१५)

भारत की एक आर्य सन्नारी बीबी राम रखी

बहुत कम लोगों ने बीवी राम रखी का नाम सुना होगा पर भारत के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

२३ दिसम्बर १९१२ को ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत पर अपना आधिपत्य जताने के अभिप्राय से दिल्ली के चाँदनी चौक में तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिंग का भव्य जुलूस निकालने का निश्चय किया। जब वाइसराय महोदय की हाथी पर सवार सवारी पूरी शानोशौकत से चाँदनी चौक में अग्रसर थी, भारत के कुछ नौजवान क्रान्तिकारियों ने रंग में भंग डालते हुए वाइसराय के हौदे पर एक शक्तिशाली बम्ब से प्रहार किया। वाइसराय तो बच गया, पर उस का एक अंगरक्षक मारा गया। खलबली मच गई। बम्ब का धमाका हिन्दोस्तान भर में तो फैला ही सात समुद्र पार इस की गूंज अमेरिका में भी सुनाई दी, जहाँ गदर पार्टी के लाला हरदयाल ने तहे दिल से इस का स्वागत किया और इसे हिन्दोस्तान की आज़ादी की लड़ाई का बिगुल कहकर आह्वान किया। इस षड्यन्त्र के पीछे जिन सरफरोश, मनचले नौजवानों का हाथ था, उन में राजस्थान के वीर केसरी सिंह बारहठ के अनुज ज़ोरावर सिंह का नाम भी लिया जाता है। वह तो अंग्रेज शासकों के हाथ नहीं लगे, किन्तु इस अभियोग में ५ अक्टूबर, १९१४ को ३ वीरों मास्टर अमीरचन्द, भाई बालमुकुन्द व अवधबिहारी को फांसी की सज़ा हुई।

बीबी रामरखी इन्हीं बालमुकुन्द की नवविवाहिता पत्नी थी। बालमुकुन्द अमर शहीद भाई मतिराम के वंशज थे जिन्हें इसी चाँदनी चौक में १६७५ में औरंगजेब के हुकुम से गुरु तेगबहादुर के प्रिय शिष्य होने के नाते जामेशहादत नोश करने का गौरव प्राप्त हुआ था।

जब बीबी राम रखी अपने पति को जेल में मिलने गई, तो उनसे पूछा, खाने को क्या मिलता है? मिट्टी भरी आटे की दो रोटियां! सोते कहां हो? बन्द कोठड़ी में दो कम्बल ले कर! गर्मी के दिन थे। जब राम रखी लौटकर अपने गांव में पहुंची तो घर की सब से

अन्धेरी काली कोठड़ी में जाकर अपना डेरा जमाया और गर्मी के मौसम में भी दो कम्बल लेकर वहां सोना शुरू कर दिया। खाने को मिट्टी भरे आटे की दो रोटियां।

मुकद्मे में भाई जी को फांसी की सज़ा का हुकुम सुनाया गया। जिस दिन फांसी दी जानी थी, बीबी राम रखी सुबह उठी। नहा–धोकर जरूरी श्रृंगार किया और नई नवेली दुल्हन की तरह सज धजकर अपने इष्ट देव की पूजा अर्चना में पालथी मार कर बैठ गई। **फिर उठी ही नहीं!**

जब तक सूरज चाँद रहेगा,
रामरखी, तेरा नाम रहेगा।

बलभद्र भारती
(पूर्व कुलपति,
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. हरिद्वार)
"गोवर्धन" ए–१५ ए
तिलक नगर, जयपुर–४

काँटों से नेह लगाने वालों....

काँटों से नेह लगाने वालों को,
नहीं फूलों के हार मिला करते हैं।
तूफानों से टकराने वालों को,
नहीं कूल—कगार मिला करते हैं।।
जो बने रहनुमा जगभर के साथी,
उनको तपना पड़ता है जीवन में।
दुनियां की पीर मिटाने वालों को
नहीं सुख—आधार मिला करते हैं।।
क्यों अधीर हो उठे आज परवानों,
कुछ तो धीरज को बाँधो।
उपवन में रंगत लाने वालों को,
कडुवे—मीठे व्यवहार मिला करते हैं।।
कब तक दासत्व तुम्हे बाँधेगा,
युग करवट लेता ही रहता है।
हर दिल की पीर हटाने वालों को,
नहीं दर—दर से प्यार मिला करते हैं।।
जिनको केवल निज कर्म सदा प्यारा है,
जो तुच्छ कीर्ति के कागज नहीं हैं पाते।
ऐसे अस्तित्व मिटाने वालों को,
नादान मनुज दुत्कार दिया करते हैं।।
पाषाणों में गति देने वालों को,
कंकालों में ज्वाला भरने वालों को।
प्रतिकूल धार से लड़ने वालों को,
नहीं हर पथ आसान मिला करते है।।
ऐ! "नीर", बगावत कैसी,
कैसा माली से झगड़ा।
दुनियां में कुछ करने वालों को,
नहीं सदा सत्कार मिला करते है।।

महावीर "नीर" विद्यालंकार
विद्यालय—विभाग
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

क्रीड़ा में योग की भूमिका

क्रीड़ा एवं योग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्रीड़ा केवल मन–बहलाव नहीं अपितु जीवन–यापन का साधन भी है। जहाँ जीवन के साथ कोई भी कार्य जुड़ जाता है तो वह व्यवसाय बन जाता है। व्यवसाय व्यक्ति को सीमित करता है, स्वार्थी बनाता है। तब वह केवल अपनी भलाई सोचता है। निज स्वार्थ पूर्ति के लिए वह कुछ भी करने को उतारू हो जाता है और यही मनुष्य के पतन का कारण बन जाता है। फिर क्रीड़ा, क्रीड़ा न रहकर अनाचार बन जाती है। ईर्ष्या–द्वेष आदि के भाव उसे दूषित कर देते हैं और न तो व्यक्ति, व्यक्ति रह पाता है और न क्रीड़ा, क्रीड़ा ही रह पाती है। क्रीड़ा को इस पतन से उबारने के लिए तथा व्यक्ति को व्यक्ति बनाने के लिए योग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

योगाभ्यास में यम और नियमों का उल्लेख व्यक्तित्व निर्माण के लिए किया गया है कि पहले व्यक्ति, व्यक्ति तो बने, देवता उसके बाद बन सकता है। हम पहले अपनी राक्षसी वृत्तियों को तो हटाएं, तभी दैवी गुणों को धारण कर पाएँगे। अत: यमों में –अहिंसा, सत्य, अस्तेप, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को लिया गया है। यहाँ इन पर संक्षेप में विचार करना समीचीन होगा।

अहिंसा – किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है। इसका पालन करने वाला खिलाड़ी किसी भी खिलाड़ी साथी को कष्ट नही पहुँचाएँगा। खेल को खेल की भावना से खेलने के लिए जो संदेश दिया जाता है, उसको दृढ़ करने में अहिंसा का भाव आवश्यक है। न तो गलत तरीकों का प्रयोग करके किसी को पीड़ित करेगा। न दूसरों को कष्ट पहुँचाने का विचार हृदय में लाएगा।

सत्य – सत्य का आचरण करने वाला असत्य मार्ग का अनुसरण नहीं करेगा। उसके किसी भी कार्य में छल या असत्य के लिए स्थान नहीं होगा। उसके व्यवहार में पारदर्शिता होगी। बेइमानी के लिए कोई स्थान नहीं होगा।

अस्तेय – चोरी न करने का भाव अस्तेय कहलाता है। कर्त्तव्य पालन में किसी प्रकार की उदासीनता भी चोरी कहलाती है। आज भ्रष्टाचार के युग में अस्तेय का भाव खिलाड़ियों को श्रेष्ठ बनाने के लिए अत्यावश्यक है। यदि इस भाव को धारण करने वाले खिलाड़ी होंगे तो मैच–फिक्सिंग जैसे काण्ड नहीं होंगे। देश का स्वाभिमान नष्ट नहीं होगा।

ब्रह्मचर्य – चरित्र का पतन किस हद तक हो गया है, यह किसी से छुपा नहीं है। वीर्य का संरक्षण न करके अपव्यय करना बल की हानि तो है ही, नैतिक पतन का कारण भी है। यदि ब्रह्मचर्यपूर्वक रहेंगे तो बल का संरक्षण तो होगा ही नैतिक पतन से भी खिलाड़ी बच सकेंगे।

अपरिग्रह – संचय न करने का भाव अपरिग्रह कहलाता है। अधिक की इच्छा में हम इतने व्याकुल रहते हैं कि जो हमारे पास होता है, उसे भी शांति से भोग नहीं पाते। इकट्ठा करते–करते एक दिन इस संसार से चले जाते हैं, जो जोड़ा था, वह यहीं रह जाता है। उस जोड़ने का क्या लाभ ? आवश्यकता से

अधिक की इच्छा नहीं करें तो समाज में सबको भोजन, वस्त्र, मकान मिल सकता है। संसार में इनकी कमी नहीं है। समान वितरण की कमी है। अत: जब आवश्यकता से अधिक का संचय नहीं करेंगे तो सब को समान रूप से भोग साधन प्राप्त हो जाएँगे। छीना–झपटी आदि सामाजिक बुराइयां समाप्त हो जाएंगी।

ये आचरण के नियम यदि पालन कर लिए जाएँ तो क्रीड़ा जगत् में पनपती विष–वल्लरी समूल नष्ट हो जाएगी। क्रीड़ा प्रेमी जन परस्पर स्नेह, सहयोग, सद्भाव के वातावरण में जीवन–यापन कर सकेंगे।

नियमों में निम्नलिखित दो का महत्त्वपूर्ण योगदान है–

संतोष – क्रीड़ा के क्षेत्र में यदि किसी को सफलता नहीं मिलती तो वह निराश होता है। उसको निराशा से निकालकर आशा के द्वार पर पहुँचाने का कार्य भी योग करता है। प्रयास करने के बाद फल रूप में जो भी प्राप्त हो, चाहे कम हो या ज्यादा, सफलता हो या असफलता, उसको स्वीकार कर लेना ही सन्तोष है। सन्तोष के धन से धनी व्यक्ति कभी तनाव ग्रस्त नहीं होगा।

ईश्वर प्रणिधान – प्रयास करने के बाद ईश्वर को समर्पित कर्म का फल जो भी प्राप्त हो, उसे स्वीकार करके आनन्द में रहना तथा ईश्वर में आस्था बनाए रखना, ईश्वर–प्रणिधान है। जो कर्म कर रहा हूँ, वह ईश्वर का ही है, ऐसा समझकर करने में उस कर्म में या कर्मफल में स्वार्थता का लोप हो जाता है, अत: विकार नहीं आता। ईश्वर को समर्पित कर्म करके खिलाड़ी स्वार्थभावना से ऊपर उठ जाएगा जिससे विरोधी पक्ष की जीत होने पर भी उसे प्रसन्नता होगी तथा अपनी पराजय स्वीकार करके भी कष्ट का अनुभव नहीं होगा।

विभिन्न क्रीड़ाओं के लिए योगाभ्यास – विभिन्न क्रीड़ाओं में आसन, प्राणायाम का प्रयोग करके खिलाड़ी अपने प्रदर्शन को अधिक उत्कृष्ट कर सकते हैं। जैसे–

१. खेल में ओजपूर्ण गतिशीलता के कारण मांसपेशियों में खिंचाव आ सकता है। उन मांसपेशियों को आसनों द्वारा मजबूत बनाया जा सकता है। लचीली मांसपेशियों की कर्षण शक्ति बढ़ जाती है जो खिंचने के बाद वापिस अपने स्थान पर आ जाती हैं।
२. दौड़ में पिण्डलियों की मांसपेशियाँ व घुटनों के पीछे की नसें खिच जाती हैं। इन्हें आसनों के नियमित अभ्यास द्वारा दौड़ के लिए उपयुक्त बनाया जा सकता है।
३. योगासन पूरे शरीर का व्यायाम करते हैं। किसी अंग विशेष का नहीं। अत: इनके अभ्यास से समुचित विकास होता है।
४. दौड़ के कारण श्वास की गति अनियंत्रित हो जाती है। प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से इस गति पर नियंत्रण पाया जा सकता है।
५. समस्त श्वसन सम्बन्धी विकार प्राणायाम द्वारा दूर हो जाते हैं। श्वास नियंत्रित रहने से स्टेमिना बढ़ जाता है।
६. शरीर में रीढ़ की हड्डी का व्यायाम न हो पाने के कारण कठोरता आ जाती है जिससे शीघ्र ही बुढ़ापा आ जाता है। बुढ़ापे में जोड़ों में दर्द तथा शरीर में दर्द का अनुभव होता है। आसनों के नियमित अभ्यास से इनसे बचा जा सकता है।
७. विशेष खेल में विशेष स्थिति रहने से उसकी आदत पड़ जाती है। जैसे हॉकी का खिलाड़ी आगे झुक जाता है।

अत: ऐसे खिलाड़ी को विपरीत स्थिति वाले योगासनों से शरीर को ठीक रखने में सहायता मिलती है।

८. भारी व्यायाम और खेल की थकान को दूर करने के लिए शवासन या योगनिद्रा का आश्रय लिया जा सकता है।

९. ध्यान के द्वारा एकाग्रता प्राप्त करके किसी भी खेल में दक्षता प्राप्त की जा सकती है। एकाग्रता के अभाव में कोई भी कार्य ठीक तरह सम्पन्न नहीं हो सकता।

१०. प्राय: देखा गया है कि खिलाड़ी कप्तान के आदेश को नहीं मानते। अपना 'अहं' सबसे ऊपर रखकर टीम भावना से नहीं खेलते। ऐसी टीम प्राय: असफल रहती है। अनुशासन का भाव योग की देन है। सहयोग के साथ रहना तथा नेता के आदेश का पालन करना योग के द्वारा खिलाड़ी में भरा जा सकता है।

११. प्राय: यह भी देखा जाता है कि निर्णायक का निर्णय मान्य न होने से विवाद खड़ा हो जाता है। यदि खेल भावना है तो निर्णायक निर्णय गलत नहीं देगा और यदि दे दिया तो योगाभ्यास करने वाला खिलाड़ी उसे सहज भाव से लेगा। उग्र रूप से विरोध नहीं करेगा।

१२. यह भी देखा गया है कि नशीले पदार्थों का सेवन करके भी किसी न किसी प्रकार खिलाड़ी जीतना चाहता है। साधन चाहे कोई भी क्यों न हो ? योगाभ्यासी नशीले पदार्थों का सेवन भी नहीं करता तथा गलत साधन को अपना कर जीतने से हार जाना अधिक उचित समझता है। अत: खिलाड़ी को योगाभ्यास का आश्रय लेना चाहिए।

१३. तनाव मुक्ति के लिए शवासन, ईश्वर–प्रणिधान, मैत्री आदि भावना, प्राणायाम, योगनिद्रा आदि का आश्रय लिया जा सकता है।

१४. विभिन्न रोगों में बिना औषधि सेवन केवल योगाभ्यास के प्रयोग से बचा जा सकता है। औषधियों का विषाक्त प्रभाव शरीर पर अपना विपरीत प्रभाव छोड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रीडा के लिए योगाभ्यास एक अनिवार्य रूप से सेवनीय विधा है जिसके द्वारा क्रीड़ा में निखार आता है तथा क्रीड़ा को क्रीड़ा की भावना से अपनाने के सिद्धान्त को बल मिलता है। अत: खिलाड़ियों को योगाभ्यास का आश्रय लेना चाहिए।

डॉ. ईश्वर भारद्वाज
अध्यक्ष,योग विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तरांचल)

सन्दर्भ

1. Mind and Supermind - N.C. Panda
2. Asana : Why and How - O.P. Tiwari
3. Yoga : its basis and applications-H.R. Nagendra
4. Yogasana : Swami Kuvalayanand
5. Ayurved for the western mind-A.B.Bhardwaj
६. औपनिषदिक अध्यात्म विज्ञान : ईश्वर भारद्वाज
७. घेरण्ड संहिता– स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती
८. हठप्रदीपिका– प्र. कैवल्यधाम, लोनावला, पूना